साहित्य सन्देश

साहित्य-शास्त्र विशेषाङ्क

[जुलाई-अगस्त १९६२]

साहित्य सन्देश कार्यालय
साहित्य कुँज, आगरा

सम्पादक—

इस अंक का

साहित्यशास्त्र विशेषाङ्क— —विषय सूची

वी. पी. द्वारा पुस्तकें मँगाइये

१०१ इन्डस्ट्री पर १००० से अधिक पृष्ठों वाली पुस्तक

स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज (लघु-उद्योग)

लेखक के. सी. गुप्ता

इस पुस्तक की सहायता से भारत सरकार से सरल किश्तों पर मशीनरी प्राप्त करना, इन्डस्ट्रीज के लिये सरकारी आर्थिक सहायता लेना, कच्चा माल व मशीनरी मालूमात नई इन्डस्ट्री चालू करने वाले तथा वह सज्जन जिनकी इन्डस्ट्री किसी विशेष कारण से बंद है या ! जिनकी इंडस्ट्री सुचारु रूप से चल रही है उनके लिये यह एक पथ प्रदर्शक का काम देगी। धनी लोग तथा वह पूंजीपति जिनकी रकम तिजोरियों में बंद पड़ी है वे अपनी रकम का ठीक उपयोग नहीं कर रहे हैं इस पुस्तक की सहायता से अपनी पूंजी के अनुसार कोई भी छोटी बड़ी इन्डस्ट्री चालू करके यश के साथ-साथ लाखों रुपये कमायें। मूल्य १२) बारह रुपये डाक खर्च २) पृथक

विवाहित जीवन को सुखमय बनाने वाली पुस्तक

महिला मंजरी (ले.-सत्यकाम सिद्धान्तशास्त्री)

इस पुस्तक में पाक विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान तथा नारी का बनाव सिंगार आदि हर विषय पर प्रकाश डाला गया है। पृष्ठ ३८४ मूल्य ६) छः रुपये, डाक खर्च १॥)

नारी जगत को हमारी अभूतपूर्व भेंट

पाक भारती (ले.-अमोलचन्द शुक्ल)

इस पुस्तक को पढ़कर प्रत्येक नारी एक आदर्श पाक ज्ञाता बन सकती है। मुरब्बा, अचार, चटनी, मिठाई, बिस्कुट, पावरोटी तथा हर प्रकार का स्वादिष्ट भोजन तैयार करने की विधियाँ सीख सकती है। ७०० पृष्ठों की सचित्र पुस्तक। मूल्य ६) छः रुपये डाक व्यय १॥)

जीवन का सुख दुख बताने वाला ग्रन्थ

ज्योतिष विज्ञान (ले.-पं. विशुद्धानन्द)

विद्यार्थी तथा साधारण जनता के लिए ज्योतिष शास्त्र संबंधी ज्ञान का अपूर्व संग्रह है जिसको पढ़कर थोड़ी हिन्दी पढ़ा मनुष्य भी ज्योतिष का पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मूल्य ६) छः रुपये, डाक व्यय १॥)

एक ही बांस में वारे न्यारे करने वाली पुस्तक

व्यापार चमत्कार (ले.-पं. रतीराम)

जिन भेदों को हजारों रुपये खर्च करने पर भी, ज्योतिषी लोग नहीं बताते थे वे सभी तेजी मन्दी के गुप्त भेद लिख दिये हैं। घाटे में आए व्यापारी भी इस पुस्तक को पढ़ लेंगे तो वह भी कभी न कभी अपना घाटा पूरा कर ही लेंगे। मूल्य ५) पांच रुपया, डाक खर्च १॥)

टेलर मास्टर बनकर अपना टेलरिंग कालिज खोलिए

दर्जी-मास्टर (ले.-मा. बद्रीप्रसाद)

इस पुस्तक को पढ़कर थोड़ी पढ़ी-लिखी स्त्रियां व पुरुष भी घर में हर प्रकार का कपड़ा काटना सीख जाते है तथा एक साधारण मनुष्य भी पूरा टेलर मास्टर बन सकता है। मूल्य २॥) ढाई रुपये, डाक व्यय १॥)

नये जमाने की नई टैक्निकल पुस्तक

ट्रांजिस्टर रेडियो (सचित्र) लेखक-आर. सी. विजय

विगत कुछ वर्षों में ट्रांजिस्टर रेडियो बहुतायत से प्रयोग में आने लगे हैं। इस महत्वपूर्ण विषय पर हिन्दी में यह प्रथम पुस्तक हैं। इस पुस्तक में ट्रांजिस्टर के सिद्धान्त, रचना, ट्रांजिस्टर रेडियो के सर्किट एवं उनकी सर्विसिंग का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक ट्रांजिस्टर एवं ट्रांजिस्टर रेडियो में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये उपयोगी सिद्ध होगी। मूल्य ४॥) साढे चार रुपये, डाक व्यय १) पृथक।

पति पत्नी पथ प्रदर्शक

यौन विज्ञान के प्रसिद्ध लेखक काशीराम चावला की तीन अनमोल यौन-पुस्तकें

- प्रेम सूत्र सजिल्द सचित्र मूल्य ३) रु. डाक खर्च १)
- काम सूत्र सजिल्द-सचित्र मूल्य ३) रु. डाक खर्च १)
- गर्भ सूत्र सचित्र सजिल्द मूल्य ३) रु. डाक खर्च १)

इन तीन किताबों में उन रहस्यों और गोपनीय बातों का उल्लेख है जिनका जानना नई नई शादी हुए जोड़ों के लिए जरूरी ही नहीं लाभदायक भी है। शादी के बाद गृहस्थी का सुख क्या होता है, यह नये जोड़े नहीं जानते और लज्जा के कारण किसी से पूछ नहीं सकते। उनके लिये ये तीनों किताबें एक अच्छे मित्र का काम देंगी। दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिये लाखों जोड़े इन तीनों किताबों को पढ़ चुके हैं। आप भी आज ही मंगाकर लाभ उठायें।

वार्निश पेन्ट इण्डस्ट्री-

जिसमें सभी प्रकार की वार्निशें घटिया व बढ़िया, आधुनिक ढंग के पेन्ट बनाने के बहुत तरीके लिखे हैं। कोई भी व्यक्ति इस पुस्तक की सहायता से थोड़ी पूंजी लगा कर वार्निश व पेन्ट बनाने का काम कर सकता है। इस लाइन से सम्बन्धित व्यापारी भाई भी इस पुस्तक की सहायता से अपने व्यापार को उन्नत कर सकते हैं। पृष्ठ संख्या २१७, सफेद कागज कपड़े की सुन्दर जिल्द सहित, मूल्य साढे सात रुपया ७॥) डाक व्यय १॥) पृथक।

रबड़ इण्डस्ट्री- (लेखक-कालीचरण गुप्त)

रबड़-लेटैक्स के रूप में प्राकृतिक रबड़ से दैनिक उपयोग की सैंकड़ों वस्तुएं बनाने की अनुभवपूर्ण शिक्षा देने वाली हिन्दी भाषा में सर्वप्रथम पुस्तक मूल्य साढे चार रुपया ४॥) डाक व्यय पृथक।

साबुन इण्डस्ट्री- (लेखक-सुरेशचन्द्र सहगल)

हर प्रकार के नहाने, कपड़े धोने, बाल सफा, शेविंग स्टिक, लीक्विड सोप, पारदर्शक सोप बनाने, साबुनों में मिलने वाली सुगन्धियां तथा साबुन फैक्ट्री की मशीनरी आदि की सम्पूर्ण जानकारी पूर्णतया समझाई गई है। मूल्य ६) छः रुपया डाक व्यय पृथक।

देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ीबाजार, दिल्ली

फोन नं. २२००३०

'आप हैं एक बिगड़े हुए नवाब ...'

'मेरे पतिदेव एक बिगड़े हुए नवाब से कम नहीं,' डी/८, यूनियन हाउस, माहिम, बम्बई १६ की श्रीमती आर. आर. प्रभु कहती हैं, 'और कपड़ों की धुलाई पर इन का माथा मैला होते देर नहीं लगती। लेकिन जब से इन के कपड़े मैं ने सनलाइट से धोने शुरू किये हैं, यह भी खुश हैं और मैं भी। सनलाइट से कपड़े शानदार सफ़ेद और उजले धुलते हैं और इस का ढेरों झाग मैल का कण कण नहा ले जाता है।

गृहिणियाँ जानती हैं कि शुद्ध, मुलायम झागवाले सनलाइट की धुलाई में उन के कपड़ों की भलाई है। आप भी इस से सहमत हो जायेंगी।

की सर्वोत्तम सुरक्षा के लिए -
हिंदुस्तान लीवर का उत्पादन
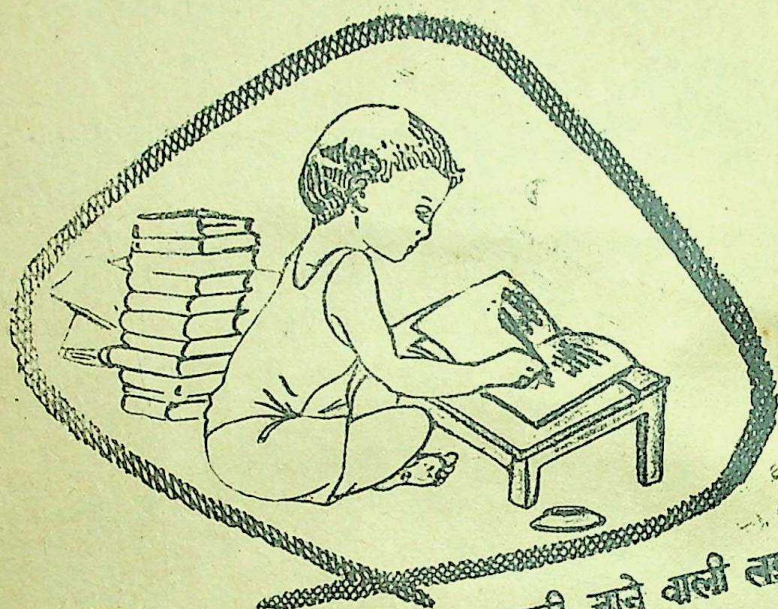
अभाव और अज्ञान के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई
पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बना कर ही
जीती जा सकती है

हमारे कुछ प्रकाशन

यौवन के दिन :	अलबर्टो मोराविया	२.००
रोम की नारी :	,,	३.५०
पतन का अन्त :	ओमप्रकाश एम. ए.	२.५०
बिगड़े चेहरे :	पुरुषोत्तमदास गौड़	२.५०
गन्दी गलियाँ :	एलेक्जेन्डर कुप्रिन	५.०० *
चुहल :	शौकत थानवी	४.००
देशी कली, विलायती भँवरा :	,,	३.२५
चिलमन के पीछे ★ :	,,	२.००
ढोंग :	,,	३.००
नवाब बच्छन :	,,	२.२५
गिरगिट :	,,	२.५०
शरीर बीबी :	मिर्जा अजीमबेग चगताई	२.२५
कोलतार :	,,	३.००
कलियाँ तीन, भँवरा एक :	,,	२.००
चगताई की कहानी :	,,	२.००
लेफ्टिनेन्ट :	,,	२.५०
जब चन्द्रमा धरती पर उतरा था :	व्यथितहृदय	१.००
दक्षिण की श्रेष्ठ कहानियाँ :	सम्पा०—ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर	२.५०
तिरस्कृत :	गोविन्दसिंह	२.००
एक औरत, एक नागिन :	सईद अमृत	२.००
चारुचित्रा :	कैलाश कल्पित	४.००
आखिरी सलाम :	आदिल रशीद	५.५०
देवता :	,,	१.००
दोपहर का चाँद :	विमल कुशवाहा	२.५०
गुरु घण्टाल :	मिर्जा हादी 'रुसवा'	४.००
उमराव जान 'अदा' :	,,	४.००
छोड़ गए बालम :	सुरेन्द्र अग्रवाल	२.००
मुस्कान का मूल्य :	रुद्रप्रसाद 'प्रवीण'	२.००
सौन्दर्य का सौदा :	,,	३.५०
गन्दी मछलियाँ साफ तालाब :	,,	४.२५
सूपनखा की चिट्ठी, लक्ष्मण के नाम :	उमाशङ्करसिंह	२.००
नया सपना :	बलवन्तसिंह	२.००
प्रणय बन्धन :	गोपालकृष्ण शुक्ल	३.५०
लेडी डाक्टर :	लक्ष्मीनारायणलाल	२.००
सायकी :	कलीम उर्फी	३.००
तटों के आँचल :	ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर	१.५०
पैबन्द के रङ्गीन दाग :	हीराप्रसाद त्रिपाठी	२.००
आकाश की सीमा ★ :	,,	३.५०
जाल :	प्रेमचन्द बाजपेयी	२.००
ताश के महल :	,,	२.५०
देश-विदेश की कहानियाँ * :	पुरुषोत्तमदास गौड़	२.००
धरती के लाल :	,,	१.५०
नेहरू पारिवारिक कहानियाँ * :	,,	२.००
कलङ्कित कौमार्य ★ :	,,	४.००
एक रूप तीन चित्र :	,,	२.५०
पाप और छाया :	ओमप्रकाश शर्मा	०.९०

★ का निशान लगी तीन पुस्तकें डी० पी० आई० पंजाब तथा * निशान लगी पुस्तकें उ० प्र० विकास आयुक्त द्वारा पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत हैं। धरती के लाल म० प्र० लोक-शिक्षण-कार्यालय द्वारा समस्त शिक्षण संस्थाओं के पुस्तकालय व पुरस्कार हेतु स्वीकृत है।

सभी पुस्तकों पर विशेष आकर्षक कमीशन,

पूरी पुस्तकों की जानकारी के लिए सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये

प्रकाशक :—

सुरेन्द्र एण्ड को०, कटरा, इलाहाबाद—२

सम्पादक : महेन्द्र सहकारी : मक्खनलाल शर्मा

भाग २४] आगरा—जुलाई-अगस्त १९६२ [अङ्क १-२

हमारी विचार-धारा

साहित्यशास्त्र-विशेषाङ्क —

भारतीय दर्शन-क्षेत्र में सभ्यता के प्रारम्भिक युग से लेकर आज तक मानव जीवन के रहस्यों का उद्-घाटन करके उसका उद्देश्य खोजने का प्रयत्न होता रहा है। उपनिषद् ने जिस ब्रह्मवाद की स्थापना की थी उसकी प्राप्ति का उपाय भी बताया गया था। जीव का मुख्य उद्देश्य 'आनन्द' माना गया है और ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द'। आनन्दोन्मुख जीव धर्म के अतिरिक्त अन्य प्रयत्नों के द्वारा भी इस आनन्द को पाने का अधिकारी हो सकता है—उसकी सम्भावना उपनिषद्-काल में ही घोषित की गई थी इसीलिए कवि को 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' कहा गया था। साहित्य उसी आनन्द को प्राप्त कराने का साधन बना। आगे चलकर उससे मिलने वाले आनन्द, आनन्द की प्रक्रिया, कारण, भूमिका आदि का विस्तार से विवेचन हुआ। इस सन्दर्भ में यह प्रतिपादित किया गया कि साहित्य-रचना में कवि को तथा उसके पठन में श्रोता को आनन्द की अनुभूति होती है।

साहित्य-रचना की प्रक्रिया का विश्लेषण अनेक प्रकार से किया गया है। सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया गया है कि कलाकार या साहित्यकार अति संवेदनशील होता है। जगत् का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आवेगमय स्थिति में वह अपने को रोक नहीं पाता है। अनुकूल माध्यम से उसकी भावनाएं अभिव्यक्ति पाती हैं। अपनाए हुए माध्यम के अनुसार ही कलाओं का विभेद किया गया है। यह भेद बाहरी है, आन्तरिक एकता ही समस्त कलाओं की समानता का आधार है। जिस प्रकार समस्त कलाओं में बाह्य विभेद के होते हुए भी एकता है उसी प्रकार साहित्य में रूप भेद से कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि का भेद होता है, जब कि उनके मूल में रागात्मक समानता रहती है। यह समानता ही सारी साहित्यिक विधाओं को एक सूत्र में जोड़ती है तथा उनके रूप-भेद से उनमें विभिन्नता भी रहती है। इस समानता और विभिन्नता को ही आधार मानकर साहित्य का वर्गीकरण किया जाता है। यहाँ भी इसी आधार को स्वीकार करके साहित्यशास्त्र की विभिन्न विधाओं की भेदक तथा समान प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है।

साहित्य-सृजन के पश्चात् उसके शास्त्र-निर्माण का प्रश्न आता है। शास्त्रकारों ने मुख्य रूप से अपने कर्म के तीन उद्देश्य स्वीकार किए हैं—

१—साहित्य के मूल्यों की व्याख्या करना।

२—पाठकों और दर्शकों को साहित्यिक मूल्यों के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि प्रदान करना।

३—साहित्यकार को उसके सृजित मूल्यों की जानकारी देकर जागरूक बनाना।

समान उद्देश्य को लेकर चलने वाले शास्त्रकारों ने जीवनानुमोदित साहित्य के मूल्य निर्धारण में दृष्टिकोण विशेष या दार्शनिकता को प्रधान माना तथा उसी के कारण साहित्यिक मूल्यों में आज अनेक परस्पर विरोधी मान्यताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस साहित्य के मूल्याङ्कन के लिए दार्शनिक, वादों को उनके ऊपर थोपते चले जा रहे हैं और उन्हें दृष्टिकोण मात्र कहकर रह जाते हैं। दार्शनिक मान्यता जब एक बार प्रवेश पा जाती है तो वह साहित्यिकता के नीचे दबकर नहीं चलती वरन् अतिवादी सीमाओं का अतिक्रमण करके उस पर हावी होकर चलना चाहती है और यही साहित्य के मानदण्डों के क्षेत्र को अन्य शास्त्रों को प्रदान कर देना होता है। यूरोप में इस प्रकार का अतिक्रमण समय-समय पर होता रहा है, इसीलिए वहाँ जितने साहित्यिक वाद मिलते हैं—भारतवर्ष में नहीं।

साहित्य के क्षेत्र में भारतीय मान्यताओं का अन्तर उसे पहले साहित्य मान कर तब स्वीकार किया गया है। इसीलिए हमारे यहाँ जैसा समृद्ध साहित्यशास्त्र यूरोप में नहीं है। इसकी दूसरी विशेषता यह भी रही है कि यहाँ साहित्यिक मानदण्ड निर्धारण में साहित्यिकता को प्रथम तथा जीवन दृष्टि को द्वितीय स्थान दिया गया है। साहित्यिकता की स्वीकृति में तो मतभेद उसके तत्त्वों की दृष्टि से रहा है। रमणीयता के मूलतत्त्वों के निर्धारण में भारतीय काव्यशास्त्री एक मत नहीं रहे हैं। उनमें से कुछ ने एक तत्त्व को तथा अन्यों ने दूसरे, तीसरे आदि तत्त्वों को सर्व प्रमुख तत्त्व माना है और इसी आधार पर आज हम अनेक सम्प्रदायों का नाम सुनते हैं। हमारे यहाँ के विचारक इतने जागरूक थे कि उनकी विवेचना साहित्य की सीमाओं में ही रही। उसने साहित्यिक सीमाओं का उल्लङ्घन करके अन्य शास्त्रों को अपने भीतर प्रवेश कराकर प्रमुख पद प्रदान करने की भूल न की। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रमुखता का भेद मानते हुए भी उन्होंने शेष तत्त्वों को अस्वीकार नहीं किया। इसका एक सुन्दर उदाहरण ध्वनिसम्प्रदाय की रस-ध्वनि की स्वीकृति है।

जब हम साहित्य को सोद्देश्य और जीवन से सम्पृक्त मान कर चलते हैं, जब हम उसे जीवन को और अधिक सुन्दर तथा सुसंस्कृत बनाने वाला स्वीकार कर लेते हैं तो इसके साथ ही साथ उसमें जीवन दृष्टि का किसी न किसी रूप में समावेश भी स्वीकारते हैं। प्रश्न है मुख्यता-अमुख्यता का। नीतिवादी प्लेटो के शिष्य आनन्द पर ध्यान न देकर साहित्य और कला में शिक्षा को प्रथम स्थान देना चाहते हैं। दूसरी सीमा पर बैठे हुए कलावादी जिनके पूर्वजों का उद्देश्य कला को शोषक वर्ग के चंगुल से मुक्त करना था—उद्देश्य भ्रष्ट होकर कला को जीवन से सम्पृक्त मानने लगे। अरस्तू के यूरोपीय शिष्य तथा समस्त भारतीय साहित्य-शास्त्रीय मध्यम मार्ग के अनुयायी रहे जिन्होंने आनन्द को प्रथम और शिक्षण को द्वितीय स्थान दिया। और ऐसा इसलिए हो सका कि इन लोगों ने साहित्य का अलग शास्त्र बनाया, उसमें सौन्दर्य शास्त्रीय तत्त्वों को प्रमुख स्थान दिया तथा अन्य शास्त्रों को अनाधिकार चेष्टा करके प्रमुख स्थान आ घेरने से रोक दिया। इस तटस्थ सक्रियता नीति के कारण ही आज साहित्य अपनी साहित्यिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ है।

रागात्मक तत्त्व की समानता को सभी विधाओं के मूल में स्वीकार करके इस विशेषाङ्क में सभी साहित्यिक विधाओं का समावेश किया गया है। कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकाङ्की, निबन्ध, आलोचना रेखाचित्र, संस्मरण आदि की शास्त्रीय विवेचना के साथ ही साथ उनका ऐतिहासिक विकास भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है। विशेषाङ्क में विभिन्न लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से परीक्षण-आलोचन किया है फिर भी उनके मूल में भारतीय काव्यशास्त्रीय मान्यताएँ ही हैं। इस विवेचन में तात्त्विक तथा आत्मिक दोनों प्रकार का विवेचन है जिससे साहित्यिक विधाओं के बहिरन्तर पर गहरा प्रकाश पड़ सका है। इन लेखों के द्वारा विधाओं के समान एवं भेदक तत्त्व प्रकट हो सकें इसका ध्यान रखा गया है। हमारी इच्छा इन लेखों में भारतीय काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों पर प्रकाश डालने वाले लेख देने की थी और इस सम्बन्ध में

अधिकारी विद्वानों के लेख हमें प्राप्त भी हुए हैं किन्तु कलेवर वृद्धि एवं तुलनात्मक दृष्टि से यूरोपीय काव्यशास्त्र के लेख देने की असमञ्जसमय स्थिति के कारण इस विशेषाङ्क से उन्हें हटाना पड़ा है। इस सन्दर्भ में यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकृत है कि हिन्दी-साहित्यशास्त्र की आधार शिला संस्कृत काव्यशास्त्र है तथा वर्तमान समीक्षाप्रणाली पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है तथा पड़ रहा है, इसलिए यह विचार किया गया है कि इन लेखों को हम सामान्य अङ्कों में प्रकाशित करेंगे। फलतः पाठकों के सामने काव्य-शास्त्र का समग्र रूप स्पष्ट हो जायगा।

साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में यह शङ्का हो सकती है कि क्या यह काव्यशास्त्र से भिन्न है? जहाँ तक काव्य, साहित्य का पर्यायवाची माना जा सकता है, वहाँ तक साहित्य शास्त्र के बीच भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती, किन्तु आजकल काव्य को कुछ लोग केवल कविता का पर्यायवाची मानकर चलते हैं और काव्यशास्त्र को वे कविता की शास्त्रीय या भावात्मक समीक्षा आदि के रूप में स्वीकार करते हैं। इस धारणा में जो अव्याप्ति दोष आगया है, उसीके निराकरण हेतु इसका नाम 'साहित्य-शास्त्र विशेषाङ्क' रखा गया है।

डा० रांगेय राघव—

१३२ पुस्तकों के प्रणेता, प्रगतिशील साहित्यकार डॉ० रांगेय राघव का असामयिक निधन हिन्दी संसार की भयङ्कर क्षति है। कीट्स ने दस साल माँगे थे और उसे नहीं मिल पाये थे, डॉ० राघव भी जीवित रह कर अभी बहुत कुछ लिखना चाहते थे किन्तु कठोर नियति का क्रूर आघात उन्हें हमारे बीच से ही उठा ले गया। जीवन के अन्तिम काल तक एक लम्बी बीमारी से सङ्घर्ष करते हुये भी उन्होंने धैर्य नहीं खोया था। जीवन में दृढ़ आस्था उन्हें अन्त तक बनी रही। उन्हें बीमारी के दौरान इस बात का दुःख था कि मैं साहित्य सृजन में संलग्न नहीं हो पाता हूँ। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय को उन्होंने अपनी वेदना एक पत्र में लिख भेजी थी। उन्होंने लिखा था—

'मित्र! यह रोग यह टाइम वेस्टर आखिर क्यों आया है?'

उनके इस वाक्य में कितनी व्यथा पुंजीभूत हो गई है। वह व्यक्ति जो साहित्य की सेवा निरन्तर करता रहा है और करता रहना चाहता है उसे बीमारी जब मजबूर करके ऐसा करने से रोक देती है तो वह बेचैन हो उठता है और इस प्रकार की अभिव्यक्ति स्वाभाविक बन जाती है। कैन्सर जैसे भयङ्कर रोग को भी कुछ न गिनना, अन्तिम समय तक पूर्ण आस्थावान बना रहना और भयङ्कर से भयङ्कर परिस्थिति को हँसते-हँसते झेलना उन जैसे वीर, साहसी और कर्मठ व्यक्ति के लिए ही सम्भव था।

डॉ० रांगेय राघव का जन्म १९२३ ई० में वैर (भरतपुर) में हुआ था। आपके पिता महाराज भरतपुर की मन्दिर को दी हुई माफी के माफीदार थे। अपने बच्चों की उचित शिक्षा के लिए उन्होंने आगरा के बाग मुजफ्फर खाँ मुहल्ले में एक मकान किराये पर लिया तथा अपने तीनों पुत्रों को आगरा रखकर पढ़ाया। राघव, जो तीनों भाइयों में सबसे छोटे थे, मेधावी सिद्ध हुए। उन्होंने आगरा स्थित सैण्टजोन्स कॉलिज से एम. ए. किया। कुछ काल वे शान्ति निकेतन रहे और वहाँ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में अपना शोध प्रबन्ध 'गोरखनाथ' पर लिखा। आगरा विश्वविद्यालय से उन्हें इस शोध प्रबन्ध पर पी एच. डी. की उपाधि मिली। शोध से पूर्व ही उनका प्रवेश साहित्य में हो चुका था किन्तु शोध-कार्य को समाप्त करके कहीं अच्छी नौकरी करने की अपेक्षा उन्होंने कलम की मजदूरी पसन्द की और अपना पूरा समय साहित्य सेवा में बिताने लगे। तब से लेकर अब तक अपनी पूरी क्षमता से वे साहित्योपासना में संलग्न रहे। काफी समय तक उन्होंने शादी का विचार स्थगित रखा। १९५७ में बात चीत के दौरान एक बार उन्होंने हमें बताया था कि शादी की समस्या मेरे सामने अभी तक उस गम्भीर रूप में आई ही नहीं है कि उस पर विचार करूं।

इससे पूर्व ही वे आगरा छोड़ चुके थे। कुछ समय पश्चात् उनकी शादी हुई। आज दो वर्ष की उनकी एक

बची है। आगरे से हट कर वे अपने निवास स्थान वैर (जिला भरतपुर) में कुछ समय रहे और फिर जयपुर में स्थायी रूप से रहने का विचार बनाकर वहीं रहने लगे थे। करीब एक वर्ष पूर्व वे आगरा आये थे। उनकी गर्दन में एक फोड़ा था जिसकी चिकित्सा कुछ समय तक उन्होंने आगरा रह कर कराई। कुछ फायदा मालूम हुआ था किन्तु जयपुर जाकर उन्हें कमजोरी बढ़ती गई, बुखार आने लगा और शक्ति दिन प्रति दिन क्षीण होती चली गई। इस अस्वस्थ दशा में भी उन्होंने अपनी साहित्य सेवा स्थगित नहीं की। स्वयं न लिख पाने की दशा में वे स्टेनो को डिक्टेशन देते थे। जब अवस्था बहुत बिगड़ गई तब उन्हें बम्बई टाटा मेमोरियल अस्पताल (बम्बई) ले जाया गया। उनके रक्त में रहने वाले लाल कीटाणुओं का बनना रुक गया था। उसी अस्पताल में उनका स्वर्गवास हो गया।

डॉ० राघव सफल कवि, यथार्थवादी कथाकार, वैज्ञानिक समाज शास्त्री, प्रगतिवादी समीक्षक, सुधी इतिहासकार, पुरातत्ववेत्ता, समर्थ रिपोर्तकार तथा अप्रतिम कहानीकार थे। उनकी साहित्यिक उपलब्धियाँ उनका नाम अमर करने की क्षमता से युक्त हैं। डॉ० रांगेयराघव द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी थे किन्तु भारतीय सभ्यता और संस्कृति की महान परम्पराओं को स्वीकार करके चलते थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय परम्परा और इतिहास' में इतिहास का द्वन्द्वात्मक पद्धति से विश्लेषण किया है। इस महान ग्रन्थ पर उन्हें २१००) का हरिजीमल डालमियाँ पुरस्कार भी मिला था। उनका वैज्ञानिक समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट तथा सुलझा हुआ था जिसकी गहरी छाप उनके विश्लेषण में सर्वत्र दृष्टव्य है। मौलिक रचनाओं की प्रतिभा के साथ ही साथ उनमें अनुवाद की महान शक्तियाँ भी थीं। उनके शेक्सपियर के नाटकों के अनुवादों से उनकी यह विशेषता भी स्पष्ट हो चुकी है। अपनी बीमारी के दौरान उन्होंने मेघदूत के छन्दों पर चित्र भी बनाए थे। ३९ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने सामान्य सृजन सीमाओं से बहुत अधिक लिखा है। यदि वे असमय ही कालकवलित न हो जाते तो सम्भव है उनकी प्रतिभा का विकास उन क्षेत्रों में भी होता जो अब सदैव उनके अभाव में अपने को अपूर्ण समझती रहेंगी। हिन्दी का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसकी बहुमुखी प्रतिभाएँ अल्पकाल तक ही टिक पाती हैं। भारतेन्दु, प्रसाद, और अब डॉ० रांगेयराघव हिन्दी जगत को बार-बार झकझोरते रहे हैं कि यदि हिन्दी वाले न चेते और अपने साहित्यकारों की सुरक्षा के लिए उन्होंने व्यापक प्रयत्न न किए तो उसके सौभाग्य चिन्ह इसी प्रकार मिटते रहेंगे। आशा है हिन्दी संसार अब इस ओर अपना ध्यान देगा और साहित्यसेवियों के लिए स्थायी निधि की व्यवस्था हो सकेगी। इन पंक्तियों के साथ हम डा० राघव के प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हैं और कामना करते हैं कि उनका वियोग-आक्रान्त परिवार इस महान् आघात को सहने की शक्ति प्राप्त करे।

आगामी अङ्क—

हिन्दी के प्रबुद्ध चेता तथा मनीषी साहित्यकार डॉ० रांगेय राघव के असामयिक निधन पर श्रद्धाञ्जलि समर्पण हेतु 'साहित्य-सन्देश' के आगामी अङ्क में उनके जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर लेख रहेंगे। हम अपने लेखक महानुभावों तथा हिन्दी के विद्वानों से सानुरोध निवेदन करते हैं कि वे अपने लेख तथा श्रद्धाञ्जलियाँ अविलम्ब भिजवाएँ।

साहित्य का तात्पर्य

डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बाह्य जगत हमारे मन के अन्दर प्रवेश करके एक दूसरा जगत बन जाता है। उसमें केवल बाह्य जगत के रंग, आकृति तथा ध्वनि आदि ही नहीं होते, अपितु उसके साथ हमारा अच्छा-बुरा लगना, हमारा भय, विस्मय, हमारा सुख-दुख भी मिला रहता है। वह हमारी हृदय वृत्ति के विचित्र रस में नाना प्रकार से आभासित होता है।

इसी हृदय वृत्ति के रस में जीर्ण करके हम बाह्य जगत को विशेष रूप से अपना बना लेते हैं। जिस तरह जिनके उदर में पचाने वाला रस पर्याप्त मात्रा में नहीं होता, वे बाह्य खाद्य पदार्थ को अच्छी तरह अपने शरीर की वस्तु नहीं बना सकते, उसी तरह जो हृदय वृत्ति के जारक रस का उपयोग संसार में पर्याप्त मात्रा में नहीं कर सकते, वे बाह्य जगत को अन्दर का जगत् अपना जगत् अर्थात् मानुषीय जगत नहीं बना सकते।

कुछ इस प्रकार के जड़ प्रकृति के मनुष्य हैं जिनके हृदयों में संसार के अत्यन्त अल्प विषयों के प्रति उत्सुकता होती है—वे संसार में जन्म लेकर भी अधिकांश जगत से वंचित रहते हैं। इनके हृदय की खिड़कियाँ संख्या में कम और चौड़ाई में संकीर्ण होती हैं, इसलिए संसार के बीच में वे प्रवासी से हैं। कुछ इस प्रकार के सौभाग्यवान मनुष्य भी हैं जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है--प्रकृति के कोने कोने से उनको निमंत्रण मिलता है, संसार के नाना आन्दोलन उनकी चित्त वीणा को नाना रागिनियों में स्पन्दित कर देते हैं। बाह्य जगत् इनके बीच हृदय वृत्ति के नाना रसों में, नाना रंगों में, नाना साँचों में अनेक प्रकार से बन जाता है।

भावुकों के मन का यह जगत् बाह्य जगत की अपेक्षा मनुष्य का अधिक अपना है। वह हृदय की सहायता से मनुष्य के हृदय के लिए अधिक सुगम हो जाता है। वह हमारे चित्त के प्रभाव से जो विशेषता प्राप्त करता है, मनुष्य के लिए वही सबसे अधिक उपादेय है।

इसीलिए देखा जाता है कि बाह्य जगत तथा मनुष्य जगत में बड़ा अन्तर है। कौन सी वस्तु सफेद है कौन सी काली है, कौन सी बड़ी है कौन सी छोटी है—मनुष्य जगत इनकी केवल सूचना ही नहीं देता है, किन्तु कौन सी वस्तु प्रिय है कौन सी अप्रिय, कौन सी वस्तु अच्छी है कौन सी बुरी है मनुष्य जगत इस बात को नाना सुरों में कहता है।

यही मनुष्य जगत हमारे हृदय में प्रवाहित होता हुआ आता है। यह प्रवाह पुरातन एवं नित्य नवीन है। नई नई इन्द्रियों—नये-नये हृदयों के भीतर होकर यह सनातन स्रोत सदा से नया होकर बह रहा है। किन्तु इसको किस प्रकार प्राप्त किया जाय इसको किस तरीकेसे पकड़ कर रक्खा जाय? इस अपरूप मानव जगत को रूप देकर दुबारा प्रकाशित न कर सकने पर यह सदा ही सृष्ट एवं सदा ही विनष्ट हुआ करता है।

किन्तु यह वस्तु नष्ट नहीं होना चाहती। हृदय का जगत अपने को व्यक्त करने के लिए व्याकुल रहता है। इसीलिए चिरकाल से मनुष्य के अन्दर साहित्य का आवेग है।

साहित्य का विचार करते समय दो बातों पर विचार करना पड़ता है। प्रथम—लेखक के हृदय का संसार के ऊपर कितना अधिकार है? द्वितीय वह स्थायी रूप में कितना व्यक्त हुआ है?

हमेशा इन दोनों के बीच में सामञ्जस्य नहीं होता जहाँ होता है, वहाँ सोने में सुहागा होता है।

कवि की कल्पना-सजीव हृदय जितना विश्वव्यापी होता है, उसकी रचना की गम्भीरता में हमारी सन्तुष्टि

उतनी ही बढ़ जाती है। उतनी ही मानव संसार की सीमा के विस्तृत होने से हमारा चिरंतन विहार का क्षेत्र विपुलता को प्राप्त करता है।

किन्तु रचनाशक्ति की निपुणता भी साहित्य में अत्यन्त मूल्यवान है क्योंकि जिसका सहारा लेकर, वह शक्ति व्यक्त होती है, उसके अपेक्षाकृत तुच्छ होने पर भी यह शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं होती। यह भाषा तथा साहित्य में इकट्ठी होती रहती है। इसके द्वारा मनुष्य की प्रकाश करने की क्षमता बढ़ जाती है। इस क्षमता को प्राप्त करने के लिए मनुष्य सदा से व्याकुल है। जिन कृतियों की सहायता से मनुष्य की यह शक्ति परिपुष्ट होती है, मनुष्य उनको यशस्वी बना कर उनसे उऋण होने की चेष्टा करता है।

जो मानस जगत हृदय के भावों के उपकरणों के द्वारा अन्दर सृष्ट होता है, उसको बाहर प्रकाशित करने का कौनसा तरीका है ?

उसको इस तरह व्यक्त करना होगा जिससे हृदय का भाव सुस्पष्ट हो जाय। हृदय के भावों को सुस्पष्ट तथा व्यक्त करने में बहुत सी सामग्री लगती है।

पुरुष को दफ्तर जाने के कपड़े सीधे सादे होते हैं, जितने कम हों, उतने ही कार्य में उपयोगी होते हैं। स्त्रियों की वेशभूषा, लज्जा, शर्म, भावभङ्गी समस्त ही सभ्य समाजों में प्रचलित है।

स्त्रियों का कार्य हृदय का कार्य है। उनको हृदय देना पड़ता है और हृदय को खींचना पड़ता है—इसीलिए बिलकुल सरल सीधा सादा और नपा नपाया होने से उनका कार्य नहीं चलता। पुरुषों को यथायोग्य होना आवश्यक है किन्तु स्त्रियों को सुन्दर होना चाहिए। मोटे तौर से पुरुषों के व्यवहार का सुस्पष्ट होना ही अच्छा है, किन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण और आभास इङ्गित होने चाहिये।

साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलङ्कारों का, छन्दों का और आभास-इङ्गितों का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान के समान निरलंकृत होने से उसका गुजारा नहीं हो सकता।

यदि अपरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त किया जाय, तो वाणी के अन्दर अनिर्वचनीयता की रक्षा करनी पड़ती है। जिस प्रकार स्त्रियों की सुन्दरता और लज्जा होती है, साहित्य की अनिर्वचनीयता वैसी ही होती है, वह अनुकरणातीत है। वह अलङ्कारों को अतिक्रम कर देती है, वह अलङ्कारों द्वारा आच्छन्न नहीं होती।

भाषा के बीच में इस भाषातीत को प्रतिष्ठित करने के लिए साहित्य मुख्यत: दो वस्तुओं को मिलाया करता है—एक चित्र को और दूसरे सङ्गीत को।

वाणी के द्वारा जिसे नहीं कहा जा सकता उसे चित्र के द्वारा कहना पड़ता है। साहित्य में इस प्रकार की चित्र-रचना की सीमा नहीं है। उपमा, तुलना और रूपक के द्वारा भाव प्रत्यक्ष होना चाहते हैं—"देखिवारे आँखि-पाखि धाय" अर्थात् "देखने के लिए आँखपक्षी दौड़ता है।" इसी एक बात में कवि बलरामराय ने क्या नहीं कह दिया है ? एकमात्र वर्णन करने में व्याकुल दृष्टि की व्याकुलता किस प्रकार व्यक्त की जा सकती है। दृष्टि पक्षी की तरह उड़कर दौड़ी है, इस चित्र से अभिव्यक्त करने की बहुत सी व्याकुलता मुहुर्त्त में शान्ति को प्राप्त हो गई है।

इसके अतिरिक्त छन्दों में, शब्दों में, वाक्यविन्यास में साहित्य को सङ्गीत का आश्रय तो लेना ही पड़ता है। जिसको किसी प्रकार भी कहा नहीं जा सकता, उसे सङ्गीत के द्वारा ही कहना पड़ता है। जो वस्तु अर्थ के विश्लेषण करने पर अत्यन्त सामान्य प्रतीत होती है, वही सङ्गीत के द्वारा असामान्य हो जाती है। यह सङ्गीत ही वाणी में वेदना का सञ्चार कर देता है।

अतएव चित्र और संगीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है और संगीत भाव को गति प्रदान करता है। चित्र देह है और संगीत प्राण है।

किन्तु केवल मनुष्य का हृदय ही साहित्य में पकड़ रखने योग्य वस्तु नहीं है। मनुष्य का चरित्र भी एक इस प्रकार की सृष्टि है जो जड़-सृष्टि की तरह हमारी इन्द्रियों द्वारा अधीन नहीं होती। वह 'खड़े हो जाओ' कहने मात्र से खड़ी नहीं होजाती। वह मनुष्य के लिए

अत्यन्त उत्सुकता-जनक है, किन्तु उसको पशुशाला के पशु के समान बाँधकर बड़े पिंजरे में बन्द करके टकटकी लगा कर देखने का कोई सुगम उपाय नहीं है।

इन्हीं कड़े नियमों से अतीत, विचित्र मानव चरित्र है—साहित्य इसी को अन्तर्लोक से बाहर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह अत्यन्त दुरूह कार्य है। क्योंकि मानव चरित्र स्थिर तथा सुसङ्गत नहीं है, उसके अनेक अंश और तहें हैं—उसके अन्दर-बाहर बेरोक-टोक अपना गमन करना सुगम नहीं है। इसके अतिरिक्त उसकी लीला इतनी सूक्ष्म है, इतनी अमानवीय है, इतनी आकस्मिक है कि उसे पूर्ण रूप से हमें हृदय-गम्य करा देना असाधारण शक्ति का ही काम है बस, वाल्मीकि, कालिदास आदि यही कार्य करते आये हैं।

यदि हमारे समस्त विचारणीय विषय को संक्षेप से कहा जाय तो यही कहना होगा कि साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है।

किन्तु 'मानव-चरित्र' यह कहना भी मानो आवश्यकता से अधिक है। वस्तुतः बाह्य प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय के अन्दर प्रति क्षण जो रूप धारण करते हैं, जिस संगीत को ध्वनित करके उठाते हैं, भाषा रचित, वही चित्र और वही गान साहित्य है।

भगवान् का आनन्द प्रकृति के बीच में, मानव-चरित्र के बीच में अपने को स्वयं सृष्टि कर रहा है। मनुष्य का हृदय भी साहित्य में अपने को सृजन करने के लिये, व्यक्त करने के लिये चेष्टा कर रहा है। इस चेष्टा का अन्त नहीं है, यह एक विचित्र बात है। कवि लोग मानव हृदय की इस चिरन्तन चेष्टा के उपलक्ष्य मात्र हैं।

भगवान की आनन्द सृष्टि अपने अन्दर से स्वयं निकल रही है। मानव हृदय की आनन्द सृष्टि उसी की प्रतिध्वनि है। इसी जगत् सृष्टि के आनन्द गीत की झङ्कार हमारी हृदय वीणा तंत्री को अहरहः स्पन्दित करती है। यही तो मानस-संगीत है—भगवान की सृष्टि के प्रतिघात में हमारे अन्दर यही जो सृष्टि का आवेग है, उसी का विकास साहित्य है। संसार का निश्वास हमारी चित्तवंशी में कौनसी रागिनी को बजा रहा है—साहित्य उसी को स्पष्ट करके व्यक्त करने की चेष्टा करता है। साहित्य किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है, वह रचयिता का नहीं है वह तो देव वाणी है। बाह्य सृष्टि जिस प्रकार अपनी अच्छाई, बुराई, अपनी असम्पूर्णता को लेकर चिरकाल से व्यक्त होने की चेष्टा कर रही है—यह वाणी भी उसी प्रकार देश-देश में भाषा भाषा में हमारे अन्तस्तल से बाहर होने के लिये निरन्तर प्रयत्न कर रही है।

—अनु०—वंशीधर मिश्र

वह जीवन के महासागर से उठी हुई उच्चतम तरंग है। मानव-जाति के भावों, विचारों और संकल्पों की आत्मकथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है। साहित्य जीवन-विटप का मधुमय सुमन है। वह जीवन का चरम विकास है किन्तु जीवन से बाहर उसका अस्तित्व नहीं। उसमें पाचन, वृद्धि, गति और पुनरुत्पादन आदि जीवन की सभी क्रियायें मिलती हैं। अङ्ग अङ्गी से भिन्न गुणवाला नहीं होता, इसलिए जीवन की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं। जो वृत्तियाँ जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्रोत हैं वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं।

—डा० गुलाबराय

साहित्य का साध्य

डा० भगीरथ मिश्र

साहित्य का साध्य क्या है ? इस प्रश्न से सम्बन्धित अनेक मौलिक शंकायें उठतीं और उठाई जाती हैं और इन शङ्काओं के आधार पर अब तक साहित्य और काव्य प्रयोजन सम्बन्धी अनेक वाद-विवादों का जन्म हुआ है। अतः साहित्य के साध्य पर विचार करने के पूर्व, उन शङ्काओं पर दृष्टिपात करना अपेक्षित है। सबसे पहली शङ्का, जो साहित्य सम्बन्धी अनुसन्धान की अपेक्षा को ही समाप्त कर देती है, यह है कि क्या साहित्य स्वयं अपना साध्य नहीं है ? यदि साहित्य का साध्य कुछ और है, तो क्या साहित्य साधन मात्र है ? यह शङ्का और और हमारा प्रारम्भिक प्रश्न इसी कारण उठते हैं कि साहित्य का साधनत्व एवं साध्यत्व—दोनों ही हमारे लिए प्रत्यक्षित होते हैं। साहित्य या काव्य हमारे बीच साधन रूप में भी आता है और साध्य रूप में भी। यह उसका स्वभाव है। प्रायः उसकी साधनरूपता एवं साध्यता के बीच विभेद कर सकना कठिन होता है, अत; हम साहित्य को साध्य रूप ही समझ बैठते हैं और तभी यह स्थापना सामने आती है कि साहित्य स्वयं साध्य है, तब उसके अन्य साध्य होने की या अन्य साध्य खोजने की क्या आवश्यकता है ?

एक बात और है कि साहित्य की साध्यता सोपान-बद्ध होती है। उसमें हम तारतम्य का अनुभव करते हैं और एक सोपान के प्राप्त हो जाने पर दूसरा सोपान साध्य हो जाता है और पहला साधन। यह सोपान-बद्धता समस्त साहित्य का ही स्वभाव है। हम यह भी कह सकते हैं कि वह साहित्य का समग्र स्वरूप है। अतः जब साध्य और साधन रूपी साहित्य के दोनों ही पक्ष उसके अङ्ग हैं, तब साधन एवं साध्य का विश्लेषण एक कठिन कार्य अवश्य है।

इसका एक और कारण है। साहित्य स्वयं एक रचना है, सृष्टि है। वह जीवन के समान है—समान ही नहीं, वह कल्पनागत जीवन है। अतएव साधन एवं साध्य सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित होती है। कुछ लोग यह मानते हैं कि मनुष्य-जीवन का साध्य मोक्ष है, सत्यान्वेषण है, लोक-कल्याण है, ईश्वर का साक्षात्कार है, चरम आनन्दानुभूति है। गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन है—

> बड़े भाग मानुष तन पावा।
> सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन गावा।।
> साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
> पाइ न जेहि परलोक सँवारा।।
> सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि-धुनि पछिताइ।
> कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाइ।।
> एहि तन कर फल विषय न भाई।
> स्वर्गउ अल्प अन्त दुखदायी।

यह विचार भक्तों का ही नहीं, आधुनिक कविश्रेष्ठ कामायनी महाकाव्यकार प्रसादजी का भी है कि भोग-विलास मात्र जीवन का लक्ष्य नहीं। विलास को ही जीवन में प्रधानता देने वाली संस्कृति विनष्ट हो जाती है और इतिहास का अनुशीलन करने पर भी हम यही देखते हैं कि जिस देश अथवा जाति में भोगवाद और विलासिता का अबाधित प्रसार एवं प्रचार हुआ; उसका तुरन्त पतन हुआ है। अतः जीवन का साध्य केवल भोग नहीं अर्थात् केवल जीना नहीं वरन् कुछ और है, विशेष रूप से मानव-जीवन का।

मानव जीवन अपने साध्य के प्रति जागरूक नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता है। हमारी सत्यान्वेषण की दिशा में वैज्ञानिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक प्रगति इसका प्रमाण है। शताब्दियों पूर्व के अपने छोटे संदेश को ही ब्रह्माण्ड मानने वाले आप, तथा अपनी क्षुद्रशक्ति के बल पर अपने को ईश्वर मानने वाले विचारधारा के स्थान पर एक विश्वशासन तन्त्र की

कल्पना पृथ्वी से इतर लोकों की यात्रा के साहसिक कार्य और विचार मानव जीवन की भोगेतर साध्यता के पुष्कल एवं पुष्ट प्रमाण हैं। फिर भी ऐसी विचार धारा की कमी नहीं है कि जो मानव जीवन का साध्य केवल जीवन मानती है। क्योंकि ये साध्य एवं साधन दोनों ही पक्ष उसके अङ्ग हैं। साधन एवं साध्य की उपलब्धियां धीरे-धीरे जीवन का अङ्ग बनती जाती हैं। साथ ही इस जीवन यात्रा का सबसे बड़ा रोचक स्वरूप तो यह है कि साध्य, सिद्ध हो जाने पर साधन बनता जाता है। वैज्ञानिक के लिए विद्युत और रेडियो एक समय आविष्कार के लिए साध्य थे, अणुशक्ति की खोज उसके लिए साध्य थी, पर आज साधन बन गयी है। अतः साधन, साध्य की विभाजन रेखायें बराबर मिटती और बनती रहती हैं और हमारी प्रगति का यही लक्षण हैं कि साध्य साधन बनते रहें और हमें उन्हें सिद्ध करते हुए नवीन साध्यों को अपने समक्ष अपने पुरुषार्थ के लिए प्राप्त करते रहें।

ठीक साहित्य के लिए भी इसी प्रकार का क्रम है। साहित्य के साध्य युग-युग में परिवर्तित होते रहे हैं और उनके विशिष्ट रूपों का युग-युग में बदलना आवश्यक भी है। जिस प्रकार विज्ञान के लिए सिद्धान्ततः एक है सत्यानुसन्धान और उसके भीतर युगानुकूल विद्युत, रेडियो, अणुशक्ति आदि विशिष्ट रूप आते रहे उसी प्रकार काव्य का भी सैद्धान्तिक रूप से साध्य एक होता हुआ भी युगानुकूल उसका रूप बदलता रह सकता है। उसके बदलते रूप यह प्रमाणित करते हैं कि हमारी साहित्यिक चेतना प्रबुद्ध है और हम उस चेतना को लेकर जागरूक एवं क्रियाशील हैं।

यही स्पष्टीकरण अब तक प्रस्तुत साहित्य या काव्य के प्रयोजनों के सम्बन्ध में भी है। भारतीय परम्परा में हम काव्य प्रयोजन सम्बन्धी जो विचार पाते हैं, वे हैं :—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥
(मम्मट)

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्य कलासु च
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्य विशेषणम् (भामह)

उपर्युक्त प्रयोजनों के अन्तर्गत जीवन की सफलता के विविध पक्ष प्रकट हुए हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये जीवन के पुरुषार्थ माने जाते हैं। इन पुरुषार्थों का तारतम्य है। एक के बाद हम दूसरा पुरुषार्थ प्राप्त करते हैं और इस प्रकार एक प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर, फिर वह साध्य के स्थान पर साधन बन जाता है। इन साधनों के तारतम्य में अन्तिम साध्य मोक्ष है जो साधन नहीं बनती। मोक्ष के अन्तर्गत जो ध्वनि है वह निषेधार्थ पूर्ण है, विधेयार्थ पूर्ण नहीं। मोक्ष अर्थात् जीवन से निष्कृति। जीवन से निष्कृति का तात्पर्य जीवन के सुखों या जीवन के आनन्द से निष्कृति तो कोई नहीं चाहेगा। अतः इसका तात्पर्य हुआ जीवन के दुःखों से निष्कृति या मुक्ति। जीवन सुख दुःखात्मक है, अतः जब उसके दुःखों से कोई मुक्त होना चाहता है तो उस के सुखों से भी हाथ धोना पड़ता है। अतः मुक्ति आनन्द हीन हुई। वह स्थिति तो एक जड़ की सी हुई। यह जीवन को दुःखपूर्ण मानने की धारणा का परिणाम है। परन्तु साहित्य या काव्य की कल्पना दूसरे प्रकार की है। वह जीवन के दुःखों को भी सुखों में परिणत करने का जादू है। हमारे जीवन के दुःखानुभव जब काव्य या साहित्य का रूप धारण करके आते हैं, तब वे हमें दुःख नहीं, वरन् सुख ही देते हैं। काव्य में रस का भी यही रहस्य है। रस के अन्तर्गत जीवन की सुख-दुखात्मक अनुभूतियां आनन्द में परिणत होजाती हैं। इसी से हम संयोग शृङ्गार के साथ-साथ वियोग शृङ्गार, हास्य के साथ-साथ करुण और वीभत्स और वीर के साथ-साथ भयानक और रौद्र रसों को प्राप्त करते हैं।

अपने लौकिक जीवन में जिन करुण, वीभत्स और भयंकर परिस्थितियों की कल्पना से भी हमारा मन सिहर उठता और शरीर थर्रा जाता है, उन्हीं परिस्थितियों को साहित्य में प्राप्त कर हम बार-बार उनका आस्वादन और परिशीलन करना चाहते हैं। यह साहित्य की रासायनिक क्रिया ही जो इस दुःखात्मक और भयावह परिस्थितियों को रमणीय रूपों में बदल देती है; साहित्य की यह क्रिया, जो मुख्यतया जीवन

की पुनः रचना क्रिया है, उसके साध्य का भी संकेत करती है। जीवन की विभीषिकाओं को प्रस्तुत कर वह यह बताती है कि वे भी जीवन के अङ्ग है, पर दूसरी ओर रम्यताओं का भी चित्रण करके वह स्पष्ट करती है कि जीवन का यह स्वरूप कितना प्यारा और वांछनीय है। साहित्य के अन्तर्गत प्राप्त इन्हीं चित्रणों में धीरे-धीरे मानव-समाज को यह प्रेरणा दी है कि सभ्यता और संस्कृति का विकास वही है जिसमें विभीषिकाओं का ह्रास और रम्यताओं की प्रचुरता और स्थिरता है। समाज से नवनिर्माण के हेतु कार्य करने वाले राजनीतिज्ञों, समाज सुधारकों और समाजशास्त्रियों को स्फुरणा साहित्य की कल्पनाओं ने ही दी है और धीरे-धीरे इन्हीं कल्पनाओं को जीवन में उतारता और साकार करता हुआ मानव जीवन पथ पर आगे बढ़ रहा है।

उपर्युक्त साहित्य की क्रिया से यह संकेत मिलता है कि साहित्य का साध्य आनन्द है। यदि हम थोड़ा ध्यान से देखें, तो हमें पता चलता है कि मोक्ष की धारणा इसकी तुलना में जीवन से एक पलायन है। साहित्य सदैव सुख-दुःखमयी जीवन परिस्थितियों का चित्रण कर हमें अनुभव, प्रेरणा और संवेदना प्रदान करता है और इन तीनों ही के द्वारा उसका कार्य आनन्द-सम्पादन है।

यहाँ पर एक शङ्का उठ सकती है। जो यह है कि क्या हमें व्यक्तियों और वर्गों की दुःखमय घटनाओं का वर्णन पढ़ कर आनन्द आता है? नहीं, परन्तु साहित्य में वर्णित इन घटनाओं का आनन्दात्मक संकेत प्रत्यक्ष या परोक्ष में प्राप्त होता रहता है। इस प्रसङ्ग में पहली बात तो यह है कि साहित्य में वर्णित वे घटनाएँ जीवन की घटनाओं के समान कटु नहीं होतीं और वे वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त होती हैं। दूसरी बात यह है कि इनके द्वारा एक सामाजिक संवेदना जाग्रत होती है और हम एक दूसरे के अधिक निकट हो जाते हैं। तीसरी बात यह है कि हम ऐसी स्थितियों से सचेत रहते हैं या समाज से उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। चौथी बात यह कि इनसे हमारे व्यक्तित्व का विस्तार होता है और हमारी संकीर्णता नष्ट हो जाती है इस प्रकार साहित्य की दुःखात्मक परिस्थितियों से भी परोक्ष संकेत आनन्द सम्पादन का ही रहता है और सुखात्मक परिस्थितियों में तो आनन्द की अजस्र धारा बहती ही रहती है।

साहित्य अपने इसी साध्य के द्वारा ही मानवजीवन में दानवत्व का नाश और देवत्व का विकास करता है। देवत्व की कालपना का आकर्षण हमारे जीवन में भरना साहित्य का ही काम है। इसी देवत्व की उपलब्धि करके मानव जीवन देवत्व से भी महान बनता जा रहा है।

—पूना विश्वविद्यालय, पूना

पश्चिम में काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान, दोनों में साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति विषयक चर्चा मिलती है। पहले साहित्य-शास्त्र के पण्डितों के सिद्धान्तों को लीजिए। वहाँ के आदि आचार्य अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा कहा है। उनका कथन है कि जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता आदि की भाषा, व्यवहार आदि का अनुकरण करने के लिए प्रेरित करती है वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य रचना की भी प्रेरणा देती है। यह बहुत ही आरम्भिक विचार था और आज इसको प्रायः कोई नहीं स्वीकार करता। साहित्य या कला अनुकरण मात्र नहीं है, आनन्दपूर्ण सृजन है।

—डा० नगेन्द्र

साहित्य और अनुकृति

डा० मुन्शीराम शर्मा

प्लेटो ने अपने गणतन्त्र में कवियों को कोई स्थान नहीं दिया। समाज संस्कार का प्रेमी यह दार्शनिक उसी व्यक्तित्व और कृति को ग्रहण करने के पक्ष में था जिससे मानव प्रबुद्ध एवं संस्कृत बन सके। कवियों के सम्बन्ध में उसकी धारणा थी कि वे सत्य और वास्तविकता से कोसों दूर हैं। उनका कार्य वस्तुओं, दृश्यों या घटनाओं का अनुकरण करना है जिसके द्वारा वे दूसरों का मिथ्या परितोष किया करते हैं। भद्र पुरुष की रुचि चाटुकारिता की ओर नहीं जा सकती। कवि जब इस प्रकार की क्रिया में संलग्न होता है तो वह भद्र रुचि से दूर जा पड़ता है। उसकी दृष्टि में लोक कल्याण नहीं, मनोविनोद रहता है। लोक-हित की सच्ची भावना से दूर रह कर जनता के मनोविनोद की सामग्री मिथ्या प्रश्रय को बढ़ावा देती हुई मिथ्या प्रपञ्च में तो पड़ती है, पर उदात्तता और कुलीनता से शून्य रहती है। जो कथन या काव्य श्रोताओं अथवा पाठकों को उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर न बना सके, उनकी अभिलाषाओं का परिमार्जन, उद्देश्यों का ऊर्ध्वीकरण और चरित्रों का उन्नयन न कर सके, संक्षेप में जो व्यक्ति को उत्तम नागरिक न बना सके, वह प्लेटो की दृष्टि में अवांछनीय ही नहीं, अग्राह्य एवं त्याज्य है। प्लेटों के समक्ष, नियमित जीवन का महत्व था। वह असंयम और अव्यवस्था को सतजीवन निर्माण के मार्ग में बाधक समझता था। जैसे शरीर की स्वस्थावस्था, उसके नियमित, संगठित शरीर-सौष्ठव में है, उसी प्रकार समाज का स्वस्थ होना सामाजिकों के संयत चरित्र पर अवलम्बित है। इस चरित्र की निर्मिति अन्याय और असंयम के उच्छेद तथा न्याय और निग्रह की प्रतिष्ठा में सन्निहित है। कवि अपनी कविता में जिन उद्वेगों का चित्रण करता है उनसे मानव-जीवन की व्यवस्था विचलित हो जाती है। निग्रह के स्थान पर भाव-प्रवाह चल पड़ता है और मानव आपे में न रह कर ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ स्थिरता, धैर्य एवं संयम जैसे उदात्त गुणों का लोप हो जाता है। सद्गुण राशि का उन्मूलन मानवात्मा को अस्वस्थ एवं रुग्ण बना देता है जिससे समाज का घोर अहित होता है।

जैसे शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उचित एवं संयत आहार-विहार की आवश्यकता है जिसके अभाव में रोग शरीर में प्रविष्ट होकर उसकी सञ्चालन क्रिया पर आघात करने लगते हैं, वैसे ही सामाजिक शरीर के स्वास्थ्य के लिए उचित एवं संयत विचारधारा की आवश्यकता है। यदि कवि संयम के स्थान पर जीवन में विचलन का भाव भरता है, तो वह अपवित्र उपचार द्वारा समाज को रुग्ण बनाने का अपराधी है।

प्लेटो की दृष्टि में कवि का काव्य सत्य से शून्य है, अतः उसका सर्वथा बहिष्कार करना चाहिए। कवि केवल अनुकरण करता है। वह भी वास्तविकता का नहीं, प्रत्युत्य अनुकृति की अनुकृति का। ईश्वर की बनाई हुई प्रकृति में जो ताजगी है, हमारी आँखों के लिए जो अभिरामता है, वह उसकी अनुकृति में नहीं हो सकती। चित्रकार जब किसी वृक्ष या पक्षी का चित्र बनाता है, तब वह चित्र विशुद्ध पक्षी का नहीं होता। उसमें बहुत कुछ अंश चित्रकार के मन का भी सम्मिलित हो जाता है। और यदि चित्र पर कोई कवि कविता लिखने लगे तो वह इस चित्र का यथा तथ्य रूप में चित्रण नहीं कर सकेगा। वह भी अपने मन से अनेक अंश निकाल कर उसमें भर देगा। ऐसा करने में वह वास्तविकता से तिगुना दूर हो जावेगा। अनुकृति की अनुकृति वास्तविकता से दूर ले जाने वाली है। और इसीलिये वह मानवता के हित में अस्वीकार्य है। प्लेटो इसी दृष्टिकोण से होमर को भी कोई महत्व नहीं देता, क्योंकि उसने भी अनुकरण

किया है। इसी वृत्ति के कारण होमर अपने शिष्य न बना सका तथा उनकी श्रद्धा तथा आदर का पात्र न हो सका। वह जनता में सदाचरण की प्रेरणा न कर सका। केवल गीत गाते हुए इधर उधर घूमता रहा।

प्लेटो के पश्चात् उनके शिष्य अरस्तू ने भी काव्य के सम्बन्ध में अपनी धारणायें उपस्थित की हैं। अरस्तू उद्‌भट विद्वान थे। तर्क शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिकी, ज्योतिष, राजनीति, सदाचार, साहित्य आदि विषयों में उनका गम्भीर प्रवेश था। साहित्य के सम्बन्ध में उनकी कृति 'पेरि पोयटिक्स', अधिक विख्यात है। उन्होंने वस्तुतः काव्यशास्त्र का प्रवर्तन किया और उसके सिद्धान्त पक्ष तथा व्यवहार पक्ष पर अपनी प्रखर प्रतिभा से जो कुछ लिखा, वह निर्भ्रान्त और भावी पीढ़ियों का मार्ग प्रशस्त करने वाला था।

अरस्तू काव्य कला को जीवन निर्माण के मार्ग में बाधक नहीं समझते। उनकी दृष्टि में काव्य कला मूलतः सौन्दर्य की साधना में ही निरत रहती है। भारतीय आचार्यों की भाँति वे भी उसे आनन्द प्रदायिनी मानते हैं, जो धर्म और राजनीति दोनों से एकान्त पृथक् है। प्लेटो उसे समाज की सेविका बनाना चाहते थे। अरस्तू इसे स्वीकार न कर सके।

जिस अनुकरण की प्लेटो इतनी निन्दा करते थे, उसमें अरस्तू को प्रशंसनीय अंश भी दिखाई दिया। उनकी दृष्टि में अनुकृति मूल के जुगुप्सित अंश को दूर कर देती है और ज्ञान का संवर्धन भी करती है। अनुकरण मानव प्रवृत्ति में समाविष्ट है। जीवन के उदय से लेकर अन्त तक उसकी महत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। अनुकरण के द्वारा मनुष्य विविध प्रकार की शिक्षाएँ प्राप्त करता है। जो वस्तुएँ हमारे मन के मेल में है, उनका अनुकरण आनन्द प्रदान में सहज कारण बन जाता है। शिक्षित एवं कुलीन व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल महान पुरुषों के स्वभाव और आचरण का अनुकरण करेंगे। उनकी यह प्रवृति सद्‌गुण राशि को अग्रसर करने और भावी पीढ़ियों के मन में उसे संचरित करने में समर्थ होगी। इस क्रिया द्वारा समाज का उन्नयन होगा, अपनयन नहीं। निम्नगा प्रवृत्ति वाले व्यक्ति यदि कुत्सित आचरणों का अनुकरण करते हैं और परिणामतः समाज में लांछित होते हैं तो ऊर्ध्वगामिनी प्रवृत्तियों के सम्पर्क में आकर वे भी प्रशस्त बन सकेंगे। अरस्तू महाकाव्य, त्रासदी (tragedy) आदि काव्य के सभी अङ्गों में अनुकृति के इस महत्व को स्वीकार करते हैं। महाकाव्य में त्रासदी के समान ऐसे पात्रों के आचरण निबद्ध होते हैं, जिन्हें समाज आदर की दृष्टि से देखता है। इस प्रकार के क्रिया-कलाप के अनुकरण का प्रत्याख्यान प्लेटो भी नहीं कर सकते। प्रहसन में अवश्य कुछ अश्लीलता, उपहास, एवं अस्वाभाविक अंश रहता है, पर वह मनोविनोद का कारण है। मानवता के संदेश की क्षति उसके द्वारा भी नहीं होती। त्रासदी में कथानक, चरित्र-चित्रण, वैचारिकता अङ्गरूप में आते हैं। अनुकृति यहाँ पर भी है परन्तु व्यक्ति की नहीं, घटनाओं की, कार्य-व्यापार की जो चरित्र से प्रायः असम्बद्ध है। यहाँ प्रश्न नीति का नहीं, सामाजिकों के मनः प्रसादन या विषादन का है। प्लेटो ने चारित्रिक प्रभाव को लेकर काव्य पर आपत्ति की थी। अरस्तू ने उसकी अविद्यमानता सिद्ध करके मूल कारण का ही निराकरण कर दिया और इस प्रकार काव्य की उपयोगिता पर अपनी मुहर लगा दी।

काव्य में जिस गीत या पद का सन्निधान रहता है और जिन दृश्यों की अवतारणा की जाती है वे भी चरित्र से असम्बद्ध हैं, हमारे सामान्य भावों को उत्तेजित करते हैं उन पर आँच भी नहीं आने देते। अरस्तू ने अनुकृति के सम्बन्ध में एक अन्य तत्त्व का भी उल्लेख किया जिसकी ओर सामान्य आलोचक की दृष्टि प्रायः नहीं जाती। काव्य का यह तत्त्व है इतिहास पर दर्शन का आरोप। काव्य में जो ऐतिहासिक गाथायें आती हैं वे अपने मूलरूप से संबद्ध होकर भी उससे बहुत दूर जा पड़ती है। इतिहास में किसी पुरुष विशेष की कथा रहती है। परन्तु काव्य में उसके देश, काल की अपेक्षा से सम्भाव्य स्वरूप की गाथा चलती है। काव्य में पात्र केवल माध्यम का कार्य करते हैं जिनके द्वारा व्यापक मनोवैज्ञानिक क्रिया कलापों पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रणाली द्वारा इतिवृत्तात्मक अवदात स्थितियों में परिणत

होजाती है और मानवता के लिए उपकारिणी बन जाती है।

काव्यगत पात्रों के वृत्तमानव मन में निहित अव्यक्त भावों, रूपों, दृश्यों और संस्कारों का भी अभिज्ञान कभी तो पाठक या दर्शक के अन्दर कौतूहल की सृष्टि करता है, कभी करुणा जगाता है, कभी त्रास देता है और कभी आनन्द प्रदान भी करता है। अव्यक्त की यह अभिव्यक्ति, लुप्त का यह आविर्भाव, मानव मन के लिए परिमार्जन का ही कार्य करता है। कारुणिक दृश्य एवं व्यापार भी मन के मल को धो देने में समर्थ होते हैं। इनमें मानव का पतन नहीं, उत्थान होता है। अरस्तू के मत में कवि जिन उच्च स्तर के प्राणियों के जीवन की अनुकृति अपने काव्य में उपस्थित करता है, वह जीवन के अनुरूप तो होती है, साथ ही उससे अधिक कहीं सुन्दर भी होती है। निम्न पात्रों की अनुकृति में जहाँ आलस्य, प्रमाद, द्रोह, ईर्ष्या, असङ्गति आदि का रूप उपस्थित किया जाता है, वहाँ कवि का ध्यान चरित्र को उदात्त बनाने की ओर होता है।

अरस्तू ने काव्य के स्वरूप का मण्डन ऊपर जिन युक्तियों द्वारा किया है और मानव जीवन के लिए उसकी उपयोगिता सिद्ध की है, उस पर भी प्लेटो पक्ष की ओर से अनेक विप्रति पंक्तियाँ खड़ी की जा सकती हैं। परन्तु अरस्तू का पक्ष इतना साधार, प्रबल और पुष्ट है कि प्लेटो के पक्ष को उसके आगे मान्यता न मिली। कवि का कार्य जीवन-उन्नयन के लिए आवश्यक समझा जाता रहा।

ऊपर अरस्तू के मत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उसमें हम निम्न तथ्यों को और जोड़ना चाहेंगे —

(१) अरस्तू ने लुप्त के आविर्भाव करने की जिस काव्य पद्धति की ओर संकेत किया है, वह घटनाओं या मनोभावों से सम्बद्ध है। इसी को बढ़ा कर हम कह सकते हैं कि कवि केवल छूटी हुई बात को ही नहीं कहता, मनोभावों की लुप्त कड़ियों को ही नहीं जोड़ता, विशृङ्खल घटनाओं में ही शृङ्खला स्थापित नहीं करता, प्रत्युत वह लुप्त पात्रों का भी उद्धार करता है। वह आवृत को अनावृत-विस्मृत को सुस्मृत, परोक्ष को प्रत्यक्ष और अनाख्यात को आख्यात भी कर देता है। जिस पात्र का नाम भर प्राचीन ऐतिहासिकों ने लिया है, और जिसके जीवन के उद्घाटन की ओर उनका ध्यान नहीं गया, कवि अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा उसे जीवन्तरूप में उपस्थित कर देता है। उर्मिला का चरित्र साकेत-कार के हाथों में पड़ कर सब के सामने आ गया। जो पात्र गर्हित समझे जाते थे, उन्हें भी कवि उभारता है और वे भी पाठकों की सहानुभूति के पात्र बन जाते हैं।

(२) इतिहास में जिन पात्रों के इतिहास का उल्लेख तक नहीं है, वे भी कवि-कल्पना से प्रसूत होकर जीवित, जागृत ऐतिहासिक व्यक्तियों में स्थान ग्रहण कर लेते हैं। राधा नाम का कोई पात्र इतिहास में दृष्टिगोचर नहीं होता, पर सूरसागर में अङ्कित राधा को कौन अनैतिहासिक कह सकता है। इस प्रकार के पात्र कवि की किसी भावना या विचार के प्रतिनिधि बनकर आते हैं और साहित्य में अमर हो जाते हैं।

(३) ऐतिहासिक घटनाओं को कवि अपने ढङ्ग से एक ऐसा मोड़ देता है जिसमें उनकी कुत्सा एवं अग्राह्यता समाप्त हो जाती है और एक ऐसे आदर्शवाद की प्रतिष्ठा होती है जो पाशव वृत्तियों का शमन, दानवता का दमन और असंस्कृत का संस्कार करके लोक को पाप-प्रक्षालन की ओर उन्मुख कर देता है। इससे मानव वृत्तियों का परिमार्जन होता है और लोक संस्कृति से सम्पन्न बन कर इस धरा धाम पर ही देवत्व का अवतरण करने में समर्थ होता है।

(४) कवि अपने काव्य में सामान्य लोक स्तर तक नहीं उतरता। वह जिस उच्च दैवी भूमिका में बैठकर अपनी पावन प्रगल्भ प्रतिभा द्वारा जिस काव्य का सृजन करता है और उसमें जीवन के जिन उच्च स्तरों की उपस्थापना करता है, उन तक सामान्य जन को पहुँचाने का प्रयत्न भी करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि काव्य लोक से भिन्न कोई अलौकिक रचना है। वस्तुतः कवि के भव्य चरित्र अपनी चारुता में इसी लोक में देखे जा सकते हैं। न जाने कितने पाठक वीरता के वर्णन पढ़कर वीराग्रणी बन गये और अपने शौर्य की प्रतिष्ठा कर गये। कवि अपनी वाणी द्वारा कृपण को दानी, अकर्मण्य को कर्मनिष्ठ, अनुदार को उदार, नपुंसक को पुरुषार्थी और मूर्ख को पण्डित बना सकता है। महाकाव्य की उपयोगिता सिद्ध करने के लिये इसको पर्याप्त प्रमाण माना जाना चाहिये।

कॉलरिज का कल्पना-सिद्धान्त

डा० कन्हैयालाल सहल

कॉलरिज के सामने वर्ड्स्वर्थ ने जब अपनी एक कविता का पाठ किया तो अकस्मात् ही उसे उस तत्त्व की उपलब्धि हुई जिसकी वर्षों से वह तलाश कर रहा था। जिस शक्ति के कारण वस्तुओं की युगपत् प्रतीति और अनुभूति होती है, निश्चय ही वह आत्मा की कोई शक्ति है। सौन्दर्य और सत्य का एकत्र साक्षात्कार और एकता की अनुभूति प्राणहीन बिम्बों के जुटा देने मात्र से, विचारों के केवल संयोजन से अथवा दूरस्थ वस्तुओं के मिला देने मात्र से संभव नहीं।

कोलरिज को लगा कि वर्ड्स्वर्थ जैसे कवि ने जब किसी वस्तु को अपनी कविता का विषय बनाया तो वह वस्तु यद्यपि वही थी तथापि उसने दूसरा रूप धारण कर लिया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो वस्तु की नूतन अवतारणा हुई हो। इसे सुन्दर आकृति मिल गई जिससे हृदय को शान्ति और बुद्धि को विश्राम मिला। इस अनुभव को केवल भावावेग का नाम नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह तो एक इस प्रकार की अनुभूति थी जिससे न केवल हृदय को ही तृप्ति मिली किन्तु जिसके द्वारा बुद्धि का भी परितोष हुआ। वस्तुत: यह विरोधों का सम्मेलन था। जिस शक्ति के द्वारा यह संभव हो सका, वह कोलरिज की दृष्टि में कल्पना की मूर्ति-विधायिनी शक्ति थी। कल्पना है ही एक सर्जनात्मक और ऐक्य-विधायिनी शक्ति जो स्वत: सुन्दर है और साथ ही सौन्दर्य का निर्माण करने वाली है।

प्रकृति जो कवि से ग्रहण कर सकती है और कवि जो प्रकृति से ग्रहण कर सकता है, वह सब आत्मा की इसी शक्ति, कल्पना द्वारा सम्पन्न होता है। कल्पना की शक्ति के सम्बन्ध में कोलरिज को जो प्रतीति हुई, वह उसके व्यक्तिगत अनुभव का फल था। आध्यात्मिक सिद्धान्तों से उसका कल्पना-सिद्धान्त प्रसूत नहीं है, हाँ, यह अवश्य है कि कल्पना की शक्ति की प्रतीति जब उसे हुई तो उसने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आधार पर उसका समर्थन कर दिया।

कोलरिज ने अपने जिन अग्रजन्मा अथवा समकालीन सदोष कवियों का अध्ययन किया, उसे उनकी कवितायें निर्जीव अथवा निष्प्राण लगीं। महान् कवियों की रचनाओं में तीव्रानुभूति की जिस अन्त:सलिला का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है, उसका इन कवियों की रचनाओं में नितान्त अभाव था। मनोवैज्ञानिकों ने मानवी चेतना का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया था कि यह संस्कारों, बिम्बों और विचारों का पुञ्ज है किन्तु इन सब में रस कहाँ? इसी प्रकार ललित कल्पनाशील कवि भी सजीव बिम्ब प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे। कालरिज को इनमें से किसी के भी द्वारा तृप्ति नहीं मिली किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, वर्ड्स्वर्थ की एक कविता ने उसे सर्वाधिक प्रभावित किया। उक्त कविता में सायास विचार अथवा शब्द-विन्यास का कोई लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता था, न इसमें बिम्बों की ही भीड़ इकट्ठी की गई थी। उक्त कविता की प्रभावकता का रहस्य क्या था? कोलरिज के ही शब्दों में 'वर्ड्स्वर्थ की इस कविता में भाव-गांभीर्य और तलस्पर्शी विचार का ऐक्य था, कल्पना-शक्ति की सहायता से निरीक्षण द्वारा पदार्थों को रूपांतरित करने में सत्य का सुन्दर संतुलन था जिसके कारण इस कविता का इतना अमिट प्रभाव पड़ा'।

दर्शनशास्त्र की मूल कठिनाई जड़ और चेतन में सामञ्जस्य स्थापित करने की रही है। जड़ से प्रारम्भ करके चेतन को उसके विकास के रूप में देखने अथवा चेतन से प्रारम्भ करके जड़ को उसी के रूप में देखने की परिपाटी दर्शनशास्त्रियों में रही है। मानवी चेतना की व्याख्या करते समय ज्ञाता और ज्ञेय अथवा विषयी

और विषय, इन दोनों की समस्या सामने आती है। आत्मा जो चेतन है, उस वस्तु का निर्धारण करती हुई जान पड़ती है जिसके प्रति वह चेतन है, इसी प्रकार वस्तु भी उस चेतना का निर्धारण करती हुई प्रतीत होती है। प्रश्न यह है कि इस विरोधाभास का समाधान कैसे किया जाय कि चेतना उस वस्तु का निर्धारण करती है जो स्वयं चेतना को निर्धारित करती है?

कोलरिज ने इसका समाधान करते हुए बतलाया कि चेतना का सिद्धान्त न तो केवल द्रष्टा का समावेश करता है और न केवल दृश्य का। यह दोनों का समाविष्ट करता है। चेतन आत्मा में विषयी और विषय, द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय, असीम और ससीम, जड़ और चेतन, इन दोनों का अन्तर्भाव है। वस्तुतः कल्पना की ऐक्य-विधायिनी शक्ति द्वारा ही उक्त विरोधी शक्तियों में सामञ्जस्य स्थापित होता है। जड़ और चेतन के बीच की खाई को पाटना कल्पना की प्रमुख विशेषता है। बाह्य को आन्तरिक और आन्तरिक को बाह्य बनाना, प्रकृति को विचार का रूप देना और विचार को प्रकृति का जामा पहनाना, ललित कलाओं में प्रतिभाशाली कलाकार द्वारा यही आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न होता है। कलाकार यह मान कर चलता है कि शरीर, मन का रूप धारण करने के लिए, सतत् प्रयत्न शील है, चेतन बनाने के लिए जड़ की निरन्तर चेष्टा जारी है; मूलतः जड़ है ही चेतन। मानवात्मा और प्रकृति में कोई ऐसी वस्तु इकसार है, सामान्य है, जिसके कारण कलाकार अपने आदर्श के अनुरूप प्रकृति को रूपायित करता है। प्रकृति के जिस सीमित रूपको वह अपनी आँखों से देखता है और कानों से सुनता है, वह उसकी चेतनागत वस्तुओं का ससीम रूप है। किन्तु वह केवल ससीम प्रकृति का ही साक्षात्कार नहीं करता, असीम प्रकृति की सम्पूर्णता का भी वह भावन करता है और यह भावन परमात्मा के रूप में नहीं होता किन्तु परमात्मा के वस्तुगत विचार के रूप में होता है। कोलरिज के मतानुसार मानवी बुद्धि और दिव्य बुद्धि के साहचर्य द्वारा ही मनुष्य की कल्पना प्रकृति के विविध रूपों में परमात्मा के वाह्यीकृत विचार को पहचान पाती है। इस प्रकार किसी अर्थ में प्रकृति एक प्रकार से कलाकार पर आरोपित होती है किन्तु जिस अनुपात में उसकी कल्पना दिव्य कल्पना की प्रतिध्वनि होती है, उसी अनुपात में वह प्रकृति को अपनी बना कर उसकी पुनः सृष्टि करता है। यदि यही बात है तो प्रश्न उठता है कि कलाकार प्रकृति की अनुकृति मात्र से ही सन्तुष्ट क्यों नहीं हो जाता? इस प्रश्न के दो उत्तर तुरन्त ध्यान में आते हैं। पहला तो यह कि इस व्यर्थ की प्रतिस्पर्धा से लाभ क्या? परमात्मा की कला का अर्थ है प्रकृति की सम्पूर्णता जिसका ऐक्य और सौन्दर्य उसकी अखण्डता में निहित है। प्रकृति के कुछ खण्डों को छीन कर उनका चित्रण करना प्रकृति को छिन्न-भिन्न करना होगा जिसमें न ऐक्य रहेगा और न सौन्दर्य।

दूसरी बात यह है कि जब कल्पना सक्रिय नहीं होती, मन के सामने केवल निर्जीव यान्त्रिक प्रकृति का चित्र ही उपस्थित होगा। कोलरिज के कहने का तात्पर्य यह है कि निरन्तर सृष्टि के द्वारा ही सृष्ट पदार्थ जीवित रहता है। प्रकृति को जो परमात्मा की सजीव कला कहा जाता है, उसका कारण यही है कि इसमें दिव्य कल्पना सक्रिय रूप धारण किये रहती है। कवि अगर अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा परमात्मा की इस सृष्टि का पुनः सृजन न करे, उसे आनन्द की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। अपनी कल्पना के आलोक द्वारा कलाकार एक नूतन जगत् की सृष्टि कर लेता है। इसलिए संस्कृत आचार्य की निम्नलिखित उक्ति बहुत ही सटीक और समीचीन है—

> अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
> यथेदं रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

कल्पना और ललित कल्पना (Fancy) के अन्तर को भी कोलरिज ने स्पष्ट किया है। उसके अनुसार ललित कल्पना 'स्थिरता' और 'निश्चितता' के साथ क्रीड़ा करती है, वह स्मरण की उस अवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो देश और काल के बन्धनों से मुक्त होती है। ललित कल्पना द्वारा सङ्कलित बिंब स्थिर और निश्चित तो होते हैं किन्तु वे विशृङ्खल होते हैं

काव्य में कल्पना-तत्त्व

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

साहित्य समाज का दर्पण माना गया है और उसकी मर्यादा जीवन की भावात्मक एवं कल्पनात्मक विवेचना में सन्निहित है। कल्पना काव्य की प्राणशक्ति है। संगीत में जो स्थान राग का है काव्य जगत में कल्पना का स्थान है। जिस कार्य को शब्द जगत में राग करता है, वही कार्य भाव-जगत में कल्पना सम्पन्न करती है। कल्पना का उद्‌भव प्रस्तुत के चिन्तन द्वारा रूपविधान में होता है। बाह्य उत्तेजना के अभाव में अनुभूति का आवेश कल्पना का ही प्रतिफल है। वास्तव में कल्पना-शक्ति सौन्दर्य बोधात्मक व्यापार है। कविता कल्पना द्वारा रुचिर मनोवेगों के हेतु रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है। कल्पना दृश्य चित्रों का संकलन करने वाली मानसिक शक्ति है। वह सूक्ष्म भावों के हेतु प्रतीकों की सृष्टि करती है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने कल्पना के स्थान पर प्रतिभा अथवा शक्ति की स्थिति को स्वीकार किया है। उन्होंने कल्पना को स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं प्रदान किया है। कल्पना शब्द 'क्लृप' धातु से विनिर्मित है जिसका तात्पर्य होता है 'सृजन करना'। अभिनव गुप्त के साहित्य गुरु भट्टतोत ने प्रतिभा की व्याख्या उपस्थित करते हुए लिखा था।

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता"

तात्पर्य यह है कि अभिनव अर्थों तथा भावों की उद्‌भावना करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। अभिनव गुप्त ने (कल्पना) प्रतिभा पर विचार प्रकट करते हुए लिखा था :—

"अपूर्व वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा।"

अर्थात् अपूर्व वस्तुओं के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा ही प्रतिभा है। भट्टतोत और उनके प्रशिष्य अभिनव गुप्त ने प्रतिभा में प्रज्ञा को प्रमुखता प्रदान की है। प्रज्ञा या प्रतिभा वही है जो नूतन और अपूर्व वस्तु की सृष्टि करती है। परन्तु पंडितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को कवि और कविता तक ही सीमित रखा है। रस गंगाधर में उन्होंने प्रतिभा के सम्बन्ध में लिखा है :—

"काव्य घटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति।"

संस्कृत-साहित्य में प्रतिभा (कल्पना) को शक्ति के रूप में भी स्वीकार किया गया है। वामन ने 'काव्य-प्रकाश' में उल्लेख किया है कि :—

"शक्ति कवित्व बीजरूप: संस्कार विशेष: कश्चित"

तात्पर्य है कि काव्य-निर्माण के मूल में प्रतिभा या शक्ति का ही प्रमुख स्थान होता है। इस दृष्टिकोण से पण्डित राज के मत का बहुत अंशों में समर्थन होता है। 'वाचस्पत्यम्' में कल्पना शब्द का अर्थ निम्नलिखित शब्दों में अङ्कित हुआ है :—

"आरोपस्य अविद्यमानं पदार्थस्य अन्यत्रस्थितस्य,

और उनमें असमानता पाई जाती है। कल्पना जब तर्क और विवेक का आश्रय छोड़ने लगती है, तो वह ललित कल्पना का रूप धारण कर लेती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे 'ऊहा' का नाम दिया था, उसे ललित कल्पना ही समझिये। इसके विपरीत कल्पना में बिम्बों का ग्रहण संश्लिष्ट रूप में होता है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता है विरोधी तत्त्वों में सामञ्जस्य की स्थापना। जब कलाकार अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में होता है तभी वह कल्पना-शक्ति का प्रयोग करने में समर्थ हो पाता है। उस समय वह मन की सनक के वशीभूत होकर नहीं लिखता है, न वह केवल तर्क के लिए तर्क करता है और न रूढ़ियों का ही आश्रय लेता है। अपनी सम्पूर्ण आत्मा का जीवन की सम्पूर्णता पर प्रक्षेपण ही उस समय कलाकार का आदर्श बन जाता है।

कोलरिज के कल्पना-सिद्धान्त ने पाश्चात्य समीक्षा-जगत् को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया है।[1]

[1] स्काट जोन्स के आधार पर लिखित।

अन्यत्र प्रतिभास रूपः मानस व्यापारः।"

तात्पर्य यह है कि कल्पना वह मानसिक व्यापार है, जो अन्यत्र स्थित रूप को तथा अविद्यमान पदार्थ को प्रतिभासित कर सके। प्रस्तुत मत का अभिनव गुप्त से साम्य है।

अतः संस्कृत-काव्य शास्त्र के आचार्यों ने प्रतिभा, शक्ति या कल्पना को मानसिक व्यापार माना है। उसी के आधार पर अपूर्व बिम्बों का विधान होता है।

अंग्रेजी-साहित्य में कल्पना को कला या काव्य तक ही नहीं सीमित रखा। वरन् उसकी स्थिति जीवन और जगत के मूल में भी स्वीकार की गई है। प्रसिद्ध कवि वर्ड्स्वर्थ के मत से पूर्ण शक्ति, स्पष्ट सूझ, बुद्धि का ऐश्वर्य तथा उच्चतर मनःस्थिति ही कल्पना है। प्रस्तुत कथन से स्पष्ट है कि कल्पना मानसिक व्यापार है। कल्पना के माध्यम से मनकी आन्तरिक वृत्ति से लेकर विश्व नियन्ता की शक्ति तक आभासित हो उठती है। शैली ने कल्पना को अभिव्यक्ति कहा है। उसके मत से तर्क कल्पना का विरोधी है। कल्पना विश्लेषणात्मक व्यापार है। तर्क वस्तुगत विभिन्नताओं को स्वीकार करता है और कल्पना वस्तुगत साम्य को। शैली ने कल्पना को समष्टि में अन्तर्निहित सत्य के रूप में स्वीकार किया है। कीट्स ने कल्पना के सम्बन्ध में वैनजामिन बेली को लिखा था कि 'मुझे पवित्र हृदय की सहानुभुति एवं कल्पना के सत्य में अत्यधिक विश्वास है।' कल्पना जिसे ग्रहण कर लेती है, चाहे उसका अस्तित्व हो या नहीं वह सत्य होकर ही रहता है। ठीक उसी प्रकार से यथा सौन्दर्य चिरन्तन सत्य है। कीट्स ने कल्पना को शाश्वत सत्य या चिरन्तन शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। प्रसिद्ध विद्वान कालरिज का कल्पना सम्बन्धी मत नितान्त साहित्यिक है। कालरिज का मत है कि कल्पना वह मानसिक शक्ति है। जिसके द्वारा बिम्बों का विधान होता है। कालरिज की प्रस्तुत परिभाषा न केवल सर्वाङ्गपूर्ण है वरन् वह यथोचित भी है। 'इमैजिनेशन' शब्द की व्युत्पत्ति 'इमेज शब्द से हुई। 'इमेज' का अर्थ है 'विम्ब'। वास्तव में मानसिक विम्बों की साहित्यिक अभिव्यक्ति ही काव्यगत कल्पना है।

मनोविज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित मर्फी का मत कि कल्पना अलभ्य लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन है। मानव आकांक्षाओं और अभिलाषाओं का रूप निःसीम होता है। अपनी सीमित परिस्थितियों में असीम अभिलाषाओं की पूर्ति का वह जो प्रयास करता है, उसके मूल में कल्पनाएँ विद्यमान रहती हैं। मर्फी की प्रस्तुत परिभाषा का कालरिज के मत से साम्य है। कालरिज ने कल्पना को ससीम मन में असीम अहं सृष्टि क्रम की आवृत्ति माना है।

स्पष्ट है कि कल्पना ही प्रत्येक प्राणी की प्रमुख प्रवृत्ति है। यह कल्पना शिल्पी में मूर्ति निर्माण के रूप में, सङ्गीतज्ञ के स्वर और लय के रूप में, चित्रकार में चित्र के रूप में और कवि में कविता के रूप में विद्यमान रहती है।

अब फारसी साहित्य में अभिव्यक्त कल्पना सम्बन्धी अभिमतों का अध्ययन करेंगे। ख्वाजा नसीरुद्दीन तूसी अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'असासुल अतंवास' में कल्पना के सम्बन्ध में जिन विचारों को प्रगट किया है उनका बहुत कुछ साम्य अरिस्टाटिल की विचारधारा से है। विद्वान लेखक ने लिखा है कि—

"ख्याल बहक़ीकत महाकाते नफस अस्त आयाने महसूसातरा" (असासुलएक्तबास पृ० ५९१)

अर्थात् बाह्य जगत की अनुभूति का मानसिक रूप विधान ही कल्पना है। अरिस्टाटिल ने भी कल्पना का विचार ऐन्द्रिय ज्ञान बुद्धि तथा स्मृति के सन्दर्भ में ही किया है।

उर्दू साहित्य के काव्यशास्त्रियों पर फारसी के विद्वानों का प्रचुर प्रभाव है। मौलाना हाली ने कल्पना को निरीक्षण के द्वारा प्राप्त अनुभवों एवं द्रव्यों की भूमिका में नया रूप प्रदान करने वाली शक्ति कहा है उसकी दृष्टि में कल्पना काव्य का प्रमुख तत्त्व और महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इतना ही नहीं हाली साहब कल्पना की परिभाषा प्रस्तुत करने में अपने को अक्षम और असमर्थ भी पाते हैं उनके शब्दों में :—

"यह (तखैयुल या कल्पना) एक ऐसी कुवंत

है कि मालूमात का जखीरा जो तजुरबे या मुशाहदे के जरिये से जहन में पहले से मुहय्या होता है, यह उसकी मुकर्रर तरतीब देकर एक नई सूरत बख्शती है और फिर उनको अल्फाज के ऐसे दिलकश पैराये में जलवागर करती है जो मामूली पैरायों से बिल्कुल या किसी कदर अलग होता हैं" (मकदमे शेर व शायरी पृष्ठ १३४)

अर्थात् कल्पना वह शक्ति है जो अनुभव के द्वारा मानसिक ज्ञान कोश का पुनः सृष्टि-विधान कर उसे एक नया रूप प्रदान करती है और फिर उसे शब्दों के माध्यम से ऐसे मनोरञ्जक ढङ्ग से व्यक्त करती है जो साधारण ढङ्गों से पूर्णतया भिन्न होता है।

मौलाना शिवली के अनुसार कल्पना कवि की कला का सबसे बड़ा ऐश्वर्य है। शिवली साहब का मत है—"तखैयुल दर असल कूबते इखतराअात का नाम है।"

अर्थात् कल्पना रचनात्मक शक्ति का नाम है। एक स्थान पर कल्पना के सम्बन्ध में विचार करते हुए शिवलीसाहब ने लिखा है कि—

"वह कूबत जिसका यह काम है कि उन अशिया को जो मरी नहीं है या जो हमारे हवाश की कमी की वजह से हमको नजर नहीं आती, हमारे नजर के सामने करदे।

इस उद्धरण में कल्पना के व्यापक महत्व को स्वीकार किया गया है। कल्पना अप्रत्यक्ष और अदृश्य पदार्थों को प्रत्यक्ष कराती है।

काव्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन में कल्पना के स्थान पर प्रतिभा और शक्ति को स्वीकार किया गया है प्रतिभा को ही काव्योत्पत्ति का कारण निर्धारित किया गया है। प्रतिभा की विवेचना करते हुये श्रीपति ने अपने काव्य-सरोज में लिखा था—

"नूतन तर्क प्रसन्न पद युक्ति बोध कर्तार,
प्रतिभा ताहि बखानिये श्रीपति सुमति अगार।"

जो बुद्धि है दर्शन में जो दृष्टि है वही कविता में कल्पना है।" तात्पर्य यह है कि कल्पना के साथ ही कवि की कला है। डा० श्यामसुन्दरदास ने कविता के तीन तत्व माने हैं—बुद्धि तत्व, कल्पना तत्व और रागात्मक तत्व। कल्पना तत्व के सम्बन्ध में विचार प्रगट करते हुये लेखक ने कहा था कि "कल्पना तत्त्व से हमारा अभिप्राय मन में किसी विषय का चित्र अङ्कित करने की शक्ति से है। डा० गुलाबराय ने कल्पना के सम्बन्ध में लिखा है—"कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं" इस परिभाषा में भी डा० साहब ने अप्रत्यक्ष को मानसिक चित्र द्वारा व्यक्त करने पर जोर दिया है।

डा० नगेन्द्र ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कल्पना की परिभाषा उपस्थित करते हुये लिखा है—"अचेतन दशा में जो स्वप्नावस्था है वही चेतना दशा में कल्पनावस्था समझनी चाहिये। डा० नगेन्द्र की प्रस्तुत परिभाषा अत्यन्त व्यापक है। विद्वान आलोचक का मत है कि कल्पना काव्य की जन्मदात्री है और कल्पना के बिना काव्य की स्थिति कल्पित नहीं हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि नूतन उद्भावनाओं और मधुर पदावली की सृष्टि करने वाली मानसिक शक्ति पुञ्ज को प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा या कल्पना के सम्बन्ध में प्रतापसाहि ने अपने काव्यविलास में लिखा था—

"बीज मूल है कवित को सोई शक्ति गनाय।
वाच्य चमत्कृत रूप जहँ जामे उपजत जाय।"

प्रस्तुत उद्धरण में मम्मट के कल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण का समर्थन अप्रत्यक्ष रूप से मिलता है।

आधुनिक विद्वानों पर पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों का प्रचुर प्रभाव है। इन विद्वानों में कुछ ने तो कल्पना को कवि प्रतिभा के रूप में स्वीकार किया है, कुछ ने उसे काव्य का मूल कारण माना है वास्तव में यह कवि की कला का मूल उपकरण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कल्पना सम्बन्धी अपने मत को मनोविज्ञान के सहारे निर्धारित करने की चेष्टा की है—

"मानसिक विधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है" शुक्लजी सच्ची कवि कल्पना उसी को मानते हैं जो भाव समन्वित हो।

इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य में कल्पना का स्थान अपरिहार्य है।

—लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

संस्कृत की शास्त्रीय समीक्षा का आरम्भ

श्री ब्रजमोहन चतुर्वेदी

यह कथन कि संस्कृत के काव्य-साहित्य की उत्तमता का श्रेय बहुत कुछ उसके साहित्य विषयक शास्त्र को है अत्युक्तिपूर्ण नहीं। संस्कृत वाङमय में काव्यालोचन विषयक शास्त्र, परम-महनीय एवं अत्यन्त विशद है। काव्य के आधायक गुणालंकारादि विविध तत्वों के पारिभाषिक रूप एवं तद्‌विषयक विचार वैविध्यमय विपुल सामग्री को देखते हुए, उसके विकास की एक महती परम्परा का बरबस अनुमान हो जाता है। किन्तु वाङमय के अन्य अंगों की भाँति ही, संस्कृत काव्यशास्त्र का मूलस्रोत भी अन्धतिमिराच्छन्न है। जहाँ तक प्राचीनता का सवाल है, उसके अनेक आचार्य ऐसे हैं; जिनका नाम शास्त्र के इतिहास में तो सुविख्यात है पर हमको उनकी बहुमूल्य कृतियों को प्राप्त करने का सौभाग्य अब तक नहीं हो सका है इस प्रकार इसके आरम्भ का निश्चय ऐकान्तिक रूप से नहीं किया जा सकता। इस शास्त्र के कुछ मान्य आचार्यों का तो यही विश्वास है कि सृष्टि की भाँति ही विद्याओं और कलाओं की उत्पत्ति भी दिव्य अर्थात् ईश्वरकृत है। वह भी ऐसा नहीं कि ईश्वर ने सृष्टि के समनन्तर ही सम्यक् रूप से सारी विद्याओं और कलाओं का साथ ही सृजन कर दिया हो अपितु यथावसर कभी किसी विद्या और कभी किसी कला का उद्‌भव जगतीतल पर होता ही रहा है। काव्यशास्त्र की उत्पत्ति भी वैसी ही दिव्य है। कुछ अन्य परम्परावादी आचार्य जो वेदों के अतिरिक्त वांगमय के किसी भी अन्य अङ्ग को ईश्वरकृत मानने को प्रस्तुत नहीं, काव्यशास्त्र का आरम्भ वेदांग के रूप में मानते हैं। इसके अतिरिक्त पुराणों में दोष, गुणालङ्कारादि काव्य के आधायक तत्त्वों का निरूपण पाकर कुछ विद्वान पुराणों से ही साहित्य-शास्त्र के उद्‌भूत होने की बात कहते हैं तो कुछ अन्य लोग पुराणों के इस अंश को प्रक्षिप्त कहकर उपलब्ध सामग्री के आधार पर भरत के नाट्यशास्त्र से ही काव्य की शास्त्रीय विवेचना का आरम्भ मानते हैं। इन सब के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के साहित्यशास्त्र के आरम्भ के विषय में भी उसी सार्वभौम सिद्धान्त को लागू किया है जिसके अनुसार काव्य और उसके शास्त्र का आरम्भ युगपत हुआ। इस प्रकार संस्कृत में साहित्यिक समालोचना के विषय में पाँच वाद समुपस्थित होते हैं।

१— दिव्य उत्पत्तिवाद।

२—काव्य और काव्यशास्त्र का आरम्भ युगपत्।

३—काव्यशास्त्र वेदांग के रूप में।

४—पुराणों से ही काव्यशास्त्र का समारम्भ।

५—भरत नाट्यशास्त्र ही काव्यशास्त्र का मूलस्रोत या उपजीव्य।

दिव्य उत्पत्तिवाद—विक्रम के दशम शताब्दी के प्रसिद्ध कवि एवं अलङ्कार शास्त्र के—ख्यातनाम आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में काव्य की मीमांसा अर्थात् विश्लेषण का प्रश्न उठाकर काव्यशास्त्र के आरम्भ की एक पौराणिक कथा कही है। काव्यशास्त्र के ज्ञाता आदि पुरुष भगवान पुरुषोत्तम थे। उन्होंने पितामह और वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को इसका उपदेश दिया। स्वयं पितामह ने अपने स्वेच्छाजन्य अन्तेवासियों को इसका अध्यापन किया। इन्हीं में सरस्वती के पुत्र काव्य-पुरुष भी थे। प्रजापति ब्रह्मा ने त्रिभुवन की हितकामना से काव्यविद्या के प्रचारार्थ सर्वगुणसम्पन्न काव्यपुरुष को ही चुना। काव्यपुरुष ने जगतीतल पर अठारह दिव्य स्नातकों को लिया और उन्हें काव्य शास्त्र के एक-एक अधिकरण की शिक्षा दी। उन्होंने अपने-अपने विषय पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की। विषय के साथ प्रवक्ता की नामावली अधोलिखित ढङ्ग से है—

विषय	प्रवक्ता
१. कविरहस्य	सहस्राक्ष
२. औक्तिक	उक्तिगर्भ
३. रीतिनिर्णय	सुवर्णनाभ
४. अनुप्रास	प्रचेतायन
५. यमक	चित्रांगद
६. शब्दश्लेष	शेष
७. वास्तव (वस्तु)	पुलस्त्य
८. औपम्य (उपमा)	औपकायन
९. अतिशय	पराशर
१०. अर्थश्लेष	उतथ्य
११. उभयालङ्कारिक	कुवेर
१२. वैनोदिक (हास्य)	कामदेव
१३. रूपकनिरूपण	भरत
१४. रसाधिकरण	नन्दिकेश्वर
१५. दोषाधिकरण	धिषण
१६. गुण	उपमन्यु
१७. चित्र	चित्राङ्गद
१८. औपनिषदिक	कुचमार

अधिकरणों के नाम से यहाँ जिन अठारह तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है कम या अधिक रूप से प्राय: वे सभी काव्य के आधायक तत्त्व के रूप में प्रसिद्धि पा चुके हैं। सामान्यतया ये ही तत्त्व काव्यशास्त्र के लक्ष-ग्रन्थों की विवेचना के विषय हैं। किन्तु इनके प्रवचन-कर्त्ता आचार्यों के नाम कुछ अजीब से ही लगते हैं। इनमें से सहलक्ष, चित्राङ्गद, उक्तिगर्भ, औपकायन, कुवेर और उतथ्य आदि अनेक नाम अलङ्कार क्या किसी भी शास्त्र के साहित्य के लिये सर्वथा नवीन और विचित्र से हैं। इसके अतिरिक्त अलङ्कार और नाट्यशास्त्र के कृशाश्व, शिलालि, कश्यप, वररुचि और मेगाविन आदि उन आचार्यों का यहाँ बिलकुल नाम नहीं है जिनकी कृतियों का पाणिनि, भामह और दण्डी आदि ने अनेकधा उल्लेख किया है। भरत, नन्दिकेश्वर, सुवर्णनाभ और कुचमार आदि कुछ नाम अवश्य ऐसे जो इस साहित्य के इतिहास में कहीं-कहीं आये हैं और प्रसिद्ध भी हैं। यह कहना तो उचित न होगा कि ये नाम सर्वथा कपोल कल्पित हैं। अधिक सम्भव है कि राजशेखर ने यहाँ पर काव्यशास्त्र के आचार्यों की एक ऐसी परम्परा को समुद्धृत किया हो जो किसी अज्ञात कारण वश प्रकाश में न आ सकी थी। उसके साथ ही भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों का जो राजशेखर के बहुत पूर्व के थे और जिन्होंने काव्यशास्त्र को बहुत दिया है, इस नामावली में बिल्कुल उल्लेख न होना अस्वाभाविक सा लगता है। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की यह है कि राजशेखर स्वयं अनुप्रास अलङ्कार के प्रयोग में बड़ी दिलचस्पी रखते हैं। यहाँ भी विषय और प्रवक्ता के नामों में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है—

"कविरहस्यं सहस्राक्ष:, औक्तिकमुक्तिगर्भ:, निर्णयं सुवर्णनाभ:, चित्रं चित्रांगद:, श्लेषं शेष, औपम्यमौपकायन:" इत्यादि। इस तरह इसमें कुछ नाम तो अवश्य ही काल्पनिक लगते हैं। महामहोपाध्याय डा० पी० बी० काणे का यह विश्वास है कि राजशेखर को इनमें से प्राय: सबकी कृतियाँ उपलब्ध थीं जो आज नहीं हैं। काव्य-मीमांसा में इनके विविध उद्धरण और अनेकश: उल्लेख इस बात के साक्षी हैं।

अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास पर दृष्टि रखकर विचार किया जाय तो ऐसा लगता है कि राजशेखर की काव्य-विधा की उत्पत्ति की इस कथा का कुछ रहस्य है। राकशेखर ने स्वयं को रसवादी आचार्य की कोटि में रखा है। वह रसवाद के ही समर्थक थे। आनन्दवर्धन का ध्वनिवाद उन दिनों सबकी चर्चा का विषय था। विद्वानों के प्रबल समर्थन के कारण उसका प्रत्यक्ष विरोध करना सम्भव नहीं था। काव्यशास्त्र के आरम्भ-काल से ही प्रोद्भूत अठारहों तत्त्वों में ध्वनि के अभाव को पुष्टि ही इस कल्पना का प्रयोजन प्रतीत होता है। आनन्द के नाम से आनन्दवर्धन का उल्लेख तो उन्होंने ग्रन्थ में कई जगह किया है किन्तु ध्वनि का संकेत तक समूची काव्यमीमांसा में कहीं नहीं हुआ है। इस तरह तत्त्वों को ही काव्य के प्रतिपाद्य विषय बताकर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जब ध्वनि काव्य का आधायक तत्व ही नहीं है फिर उसको काव्य की

आत्मा कहना व्यर्थ एवं उपहासास्पद है। काव्यशास्त्र की दिव्य उत्पत्ति का यह वाद निःसन्देह राजशेखर की अपनी कल्पना है जो भरत के नाट्य की उत्पत्ति की गाथा के समान ही पौराणिक मात्र है।

काव्य और काव्यशास्त्र का आरम्भ युगपत— संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रख्यात पाश्चात्य विद्वान डा० कीथ काव्य और काव्यशास्त्र का आरम्भ एक साथ ही मानते हैं। उनका कहना है कि किसी साहित्य की पहली कविता जब लिखी गई होगी, कई तरह के श्रोताओं ने उसके गुणावगुण के बारे में उसी समय अपनी राय दी होगी। वही उसकी समालोचना थी और इस तरह विविध मतों और मतान्तरों का संग्रह कर काव्यालोचन का शास्त्र लिखा गया। वह इस मान्यता के सर्वथा विरुद्ध है कि काव्यशास्त्र की रचना पहले हुई और पश्चात् उसके द्वारा निर्दिष्ट सरणि पर ही काव्य लिखे गये। कवि पहले कविता लिखता है, उसकी आलोचना होती है बाद में वही विकसित एवं परिष्कृत होकर काव्यशास्त्र का रूप धारण कर लेती है। यह दूसरी बात है कि काव्यशास्त्र का पठन-पाठन कविता की रचना में सहायक होता है। भाषा और व्याकरण का भी यही सम्बन्ध है। पहले भाषा फिर उसकी व्युत्पत्ति रूप व्याकरण। अनन्तर व्याकरण भाषा के सीखने में भी सहायक हो जाता है।

कविता के आरम्भ के साथ ही काव्यशास्त्र के आरम्भ की बात इस ओर संकेत करती है कि कविता के आरम्भ के विषय में कुछ प्रकाश डाला जाय। कविता की ठीक परिभाषा करना और उसे साहित्य के अन्य अङ्गों से सर्वथा पृथक् कर सकना सरल बात नहीं। फिर भी एक बात यह है कि उसके कहने का ढङ्ग और कुल मिलाकर उसकी स्पिरिट इन सबकी विलक्षणता किसी भी उत्तम कविता को अन्यों से पृथक् करती है। इस दृष्टि से देखने पर ऋग्वेद में अनेक ऐसी रचनाएं हैं जिनमें कविता की चारुता पर्याप्त मात्रा में सन्निहित हैं। विशेषकर उषा को सम्बोधित कर पढ़ी गयी स्तुतियाँ ऐसी हैं जिन्हें कविता का उत्तम उदाहरण होने में सन्देह नहीं।

"अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुंवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ॥ऋ० वे० १।१२४।७।

उषा कभी अपने शुभ्र उज्ज्वल रूप को धारण करती हुई स्नान करने वाली सुन्दरी की भाँति आकाश में प्रकट होती है तो कभी भ्रातृविहीन भगिनी के समान अपने दाँयें भाग को लेने के लिए पितृ स्थानीय सूर्य के पास आती है। कभी वह सुन्दर वस्त्र पहने पति को अपने प्रेमपाश में बाँधने के लिए मचलती हुई सुन्दरी के समान प्रियतम के सामने अपने मनोहर रूप को प्रकट करती है। ऋषियों ने उषा के रम्य रूप पर लुब्ध हो उसके वर्णन में आज के कवियों को भी मात कर दिया है—एक अन्य सूक्त में उषा का ही वर्णन है।

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तात् आविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥
ऋ० १।१२३।१

हे प्रकाशमयी उषे ! तुम कमनीया कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उसके सम्मुख स्मितवदना युवती की तरह अपने वक्ष को किञ्चित आवरण रहित करती हो।

समूचे वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार की उत्तम कविताओं की उपलब्धि इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि उसी समय से काव्य के आधायक उपमा और समासोक्ति अलङ्कारों के प्रयोग का आरम्भ हो गया था। निरुक्त में उपमा के लक्षण और भेद का विवेचन भी इसी ओर संकेत करता है कि उन दिनों भी काव्य-शास्त्र की दृष्टि से भी कविता का विवेचन होता था।

काव्यशास्त्र वेदांग के रूप में—वेद की व्याख्या के जो शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं उन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष ये ही छः वेदाङ्ग हैं। राजशेखर का कहना है कि वेदार्थ की यथावत् प्रतीति में अलङ्कारशास्त्र भी अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। वेद में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनका अर्थ अलङ्कार शास्त्र की पद्धति से ही सम्भव है। उदाहरण के रूप में एक ऋचा है—

द्वा सुपर्णासयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वजाते ।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्ननन्यो अभिचाकशीति
ऋग्–१।१६४।२०।

दो पक्षी पीपल के एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, दोनों की पाँखें बड़ी सुन्दर हैं, दोनों सदा साथ रहते हैं अतः एक दूसरे के सखा लगते हैं। उनमें से एक तो पीपल के स्वादिष्ट फल चुगता है और दूसरा बिना कुछ खाये ही रहता है पर हृष्ट-पुष्ट ऐसा है मानो चमक रहा हो। यहाँ पर रूपक और व्यतिरेक दो अलङ्कारों की संसृष्टि है। पूर्वार्द्ध में रूपक है। दोनों पक्षी जीव और ईश्वर हैं। मानव-शरीर ही इनका आश्रय वृक्ष है, जहाँ दोनों एक साथ निवास करते हैं। इनके तीन विशेषण-सुपर्णौ सयुजौ और सखायौ है जिनका अन्वय पक्षी और जीव ईश्वर उभयमुख होता है। उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक है—दोनों में से एक अर्थात् जीव शरीरकृत कर्मों के फल को भोगता है, जबकि दूसरे अर्थात् ईश्वर का मनुष्य के कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं। फिर भी ईश्वर जीव से अधिक तेजस्वी है अथवा सांसारिक भावों से निर्लिप्त या आसक्त न होने से वह जीव से श्रेष्ठतर है। आचार्य राजशेखर का कहना है कि जो अलङ्कार शास्त्र नहीं जानता उसे शब्दार्थ मात्र से उक्त मन्त्र के ठीक अर्थ की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती क्योंकि इसमें अलङ्कार के माध्यम से ही जीव और ईश्वर की एकरूपता और भेद का विवेचन हुआ है शब्दतः नहीं। अतएव उनका आग्रह है कि वेदार्थ की प्रतीति में उपकारक होने से अलङ्कार शास्त्र को सप्तम वेदांग माना जाना चाहिए।[1]

निरुक्त और पाणिनि की अष्टाध्यायी के आलोड़न प्रलोड़न से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्यशास्त्र के विषयों का विवेचन भी वेदाङ्ग का विषय रहा है। यास्क के निरुक्त में यत्र-तत्र अलङ्कार शास्त्र की सामग्री बिखरी पड़ी है। जिसका सम्यक् विवेचन स्वतन्त्र रूप से एक शोध निबन्ध का विषय है। उदाहरण के तौर पर हम यहाँ उपमा का थोड़ा विवेचन उपस्थित करते हैं। निरुक्त की तीसरे अध्याय के तेरहवें खण्ड में उपमा का लक्षण करते हुए लिखा है—उपमा यत् अतत् तत्सदृशम् इति गार्ग्यः। अर्थात् जो वही वस्तु नहीं है किन्तु उसके समान है उसका सादृश्य कथन ही उपमा है। इसके उदाहरण भी वहाँ दिये हैं—अग्निस्विखद्योतः। जुगुनू आग के समान है। आगे इस सादृश्य की भी सूक्ष्म विवेचना हुई है। यह सादृश्य कई प्रकार से सम्भव है। अधिक गुण वाले के साथ कम गुण वाले का जैसे सिंह इव माणवकः, बालक सिंह के समान है। प्रख्यात से अप्रख्यात का चन्द्र इव कान्तो माणवकः, इत्यादि।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी 'उपमानानि सामान्य वचनैः' "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्या प्रयोगेः' आदि अनेक सूत्र ऐसे हैं जिनमें अलङ्कार के उपमा आदि तत्वों का विवेचन हुआ है। यह सामग्री स्थालीपुलाकन्याय से इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए पर्याप्त है कि अलङ्कार शास्त्र के विविध अङ्गों के विवेचन का आरम्भ वेदांग के साथ ही हुआ है।

४—पुराणों से ही साहित्य शास्त्र का आरम्भ— अग्नि और विष्णु धर्मोत्तर पुराणों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट तौर पर व्यक्त हो जाता है कि उनमें स्थान-स्थान पर अलङ्कार शास्त्र के विषयों का विवेचन विशद रूप से हुआ है। ये पुराण ही सम्भवतः साहित्य-शास्त्र के आरम्भ के ग्रन्थ भरत नाट्यशास्त्र आदि के भी उपजीव्य हैं। इस बात का उल्लेख यत्र-तत्र अनेक लोगों की कृतियों में हुआ है। काव्य-प्रकाश की 'आदर्श' नाम की टीका में महेश्वर ने लिखा है कि भरतमुनि ने सरस काव्यों के माध्यम से सुकुमारमति राजकुमारों को शास्त्रान्तर में प्रवृत्त कराने के लिए काव्य रसास्वादन के हेतुभूत अलङ्कारशास्त्र का अग्निपुराण से उद्धृत कर संक्षिप्त रूप से कारिकाओं में प्रतिपादन किया है।[1] ठीक यही बात विद्याभूषण की 'साहित्य-कौमुदी' की

[1] उपकारकत्वात् अलङ्कारः सप्तमम् वेदांगम् इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः राजशेखर— काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय।

[1] सुकुमारान् राजकुमारान् स्वदुकाव्य प्रवृत्ति द्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुम् अग्निपुराणाद उद्धृत्य काव्यरसास्वाद कारणमतमं कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्। महेश्वर काव्य प्रकाश की आदर्श टीका।

'कृष्णानन्दिनी' टीका में भी दुहरायी गयी है।[1]

अग्निपुराण कई जगह से प्रकाशित हुआ है। श्री वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण के ३३६ से ३४७ तक के दश अध्यायों में साहित्य-शास्त्र का विशद विवेचन हुआ है। काव्य की लक्षण, गद्यपद्यचम्पू, एवं कथा आख्यायिका और प्रबन्ध मुक्तक आदि उसके भेदोपभेद, दशविधनाट्य, रस तथा विभाव अनुभाव आदि उसके अङ्ग रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति अभिनय चतुष्टय, शब्द, एवं अर्थालङ्कार गुण तथा दोष आदि काव्यशास्त्र के सभी विवेच्य विषयों का इसी क्रम से एक एक अध्याय में सांगोपांग निरूपण उपलब्ध होता है। उसी प्रकार विष्णु धर्मोत्तर पुराण के तृतीय खण्ड में सहस्राधिक पद्य एवं पर्याप्त गद्य में उभयविध काव्य नाट्य और अलङ्कार का शास्त्रीय विवेचन हुआ है। दोनों पुराणों की उपलब्ध सामग्री को देखकर यही कहना पड़ता है कि पुराण ही काव्यशास्त्र के मूल स्रोत हैं। किन्तु यही बात जोर देकर तब कही जा सकती है जबकि निश्चित रूप से यह सिद्ध हो जाता कि इन पुराणों की रचना का अन्तिम काल भामह, दण्डी और भरत से पूर्व है। भाषा और विषय-विवेचन की प्रणाली के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने इनको किसी एक व्यक्ति की कृति न मान कर सङ्कलित माना है। और इनका सङ्कलन कार्य ईसा की दशम् शताब्दी तक होता आया है, ऐसी उनकी धारणा है। वास्तव में यदि पुराणों का यही काल है तो इनके पूर्व की युक्त भामह, दण्डी और भरत आदि आचार्यों की कृतियों के उपलब्ध होने से इनसे हम साहित्य के शास्त्रीय विवेचन का आरम्भ नहीं मान सकते। साथ ही सम्भावना इस बात की भी है कि इन पुराणों के मूल रूप में काव्यशास्त्र विषयक विवेचन रहा हो और उससे ही भरत आदि ने सामग्री ली हो। जो भी हो पुराण साहित्य के शास्त्रीय विवेचन की परम्परा में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

५. भरत का नाट्यशास्त्र ही काव्यशास्त्र का मूलस्रोत— भरत के नाट्यशास्त्र का स्थान साहित्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र के इतिहास में इसलिये प्रथम है कि इसके पूर्व का कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है जिसमें काव्य के आधायक विविध तत्वों का विवेचन स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में हुआ हो। गद्यपद्यमय ६ हजार कारिकाओं में उपलब्ध नाट्यशास्त्र में दृश्य एवं काव्य उभयविध काव्य के किसी अंग उपांग को अछूता नहीं छोड़ा गया है। आगे चलकर काव्यशास्त्र के इतिहास में अलंकार और काव्य का शास्त्रीय विवेचन अलग अलग स्वतंत्र रूप से हुआ। फिर भी उभयपक्ष के आचार्य अपने विषय के विवेचनार्थ नाट्यशास्त्र की ही प्रामाणिकता में विश्वास करते रहे हैं। वास्तव में भरत का नाट्यशास्त्र काव्यविषयक आलोचना का उपजीव्य ग्रन्थ है। साहित्यिक समालोचना के सम्बन्ध में आज नाट्य-शास्त्र के पन्ने उलटे जाते हैं।

उपलब्ध नाट्यशास्त्र के काल के सम्बन्ध में भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। अनेक उल्लेखों और प्रमाणों के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि नाट्यशास्त्र का वर्तमान विक्रम की तीसरी शताब्दी पूर्व का ही है बाद का नहीं। तब तक वह अपना प्रकृतिरूप धारण कर चुका था। उपलब्ध नाट्यशास्त्र या तो मूलतः किसी अति प्राचीन सूत्रात्मक कृति का परिवर्द्धित एवं परिष्कृत रूप है अथवा नाट्य एवं काव्य पर उपलब्ध विपुल सामग्री का संकलित रूप। जो भी हो नाट्यशास्त्र साहित्य संगीत और नृत्यकला का विशद विश्वकोश है।

साहित्यिक समालोचना के आरम्भ का विचार करते हुए इन विविध वादों में से किसी एक को ही इदमित्थम् मान लेना अन्याय होगा। फिर भी अपनी जगह पर सबका अपना विशेष महत्व है। साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का विकास व्यक्ति विशेष के किसी एक दिन का कृत्य कथमपि नहीं माना जा सकता। उसके विकास की एक सुदीर्घ शृङ्खला है। जिसकी कड़ी के रूप में ये सभी वाद उसकी अवस्था विशेष के परिचायक मात्र हैं।

— आगरा कालेज, आगरा।

[1] काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्य प्रक्रियां भरतः सक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निर्बबन्ध। साहित्य कौमुदी की कृष्णनन्दी टीका।

संस्कृत काव्य शास्त्र का सर्वेक्षण

डा० सत्यदेव चौधरी

संस्कृत का काव्यशास्त्र लगभग दो सहस्र वर्ष पर्यन्त निर्मित एवं विकसित सिद्धातों का एक विशाल कोष है। दूसरी, तीसरी शती ई० पू० से लेकर सत्रहवीं शती तक इसके सिद्धान्तों में कभी तीव्र कभी मन्द गति से निरन्तर विकास होता रहा। काव्य विधान की जो अवस्था रसवादी (?) भरत के समय—दूसरी, तीसरी ई० पू० में थी वह अलंकार को काव्य-सर्वस्व मानने वाले भामह और दण्डी के समय—छठी, सातवी शती ई०—में परिवर्तित हो गई। इनके अनुसार रस, 'अलंकार' का ही एक रूप बन गया।

आगे चलकर नवीं शती में एक साथ तीन प्रबल काव्याचार्यों का आविर्भाव हुआ। इनमें से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए अलंकार रस को गौण स्थान दिया। उद्भट ने 'अलंकारवाद' का प्रबल समर्थन किया और आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वनि—सिद्धान्त' का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। इसके पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे। धनञ्जय (दसवी शती) ने इसे 'तात्पर्य' में अन्तभू त किया, कुन्तक (दसवीं, ग्यारहवी शती) ने वक्रोक्ति में और महिमभट्ट (ग्यारहवी शदी) ने 'अनुमान' में परन्तु मम्मट (ग्यारहवीं शदी) ने अपने गम्भीर विवेचन द्वारा ध्वनिविरोधियों का समर्थ शैली में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनिसिद्धान्त की अकाट्य रूप से स्थापना की। और इसके प्रति आस्था को परिपक्व कर दिया। यह आस्था अगली छः शताब्दियों तक निरन्तर बनी रही। यहाँ तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकृत करने वाले जयदेव (तेरहवीं शती) ने अपने ग्रन्थ में ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया, और ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले विश्वनाथ (चौदहवीं शती) ने न केवल ध्वनि-प्रकरण का निरूपण किया, अपितु रस को ध्वनि का ही एक भेद माना। संस्कृत के अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ (सत्रहवीं शती) ने भी ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया।

उक्त मूल आचार्यों के अतिरिक्त टीकाकारों का भी इस दिशा में योगदान कुछ कम नहीं है। भरत के प्राचीन व्याख्याताओं में उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्ट तौत, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त की टीका 'अभिनव भारती' उपलब्ध है, अन्य टीकाकारों का इसी टीका में उल्लेख मिलता है। उद्भट ने सम्भवतः भामह के ग्रन्थ की भी टीका 'भामह-विवरण' नाम से प्रस्तुत की थी। दण्डी का प्रसिद्ध टीकाकार तरुण वाचस्पति है। उद्भट के दो टीकाकार हैं—राजानक तिलक और प्रतिहारेन्दुराज। वामन का प्रसिद्ध टीकाकार गोपेन्द्रत्रिपुर हरभूहाल है। आनन्दवर्धन के टीकाकारों में अभिनव गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। धनंजय का टीकाकार धनिक है और महिम भट्ट रूय्यक। मम्मट के ग्रन्थ के लगभग सत्तर टीकाकार बताये जाते हैं, जिनमें से उद्भावक एवं प्रख्यात टीकाकार गोविन्दठक्कुर हैं। विश्वनाथ के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरन तर्कवागीश और शालग्राम हैं, और जगन्नाथ का नागेश भट्ट है। इन टीकाकारों के गम्भीर, प्रौढ़ एवं तर्कसम्मत व्याख्यान विवेचन ने काव्यशास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने में महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय सहायता दी है।

मम्मट के पूर्व और इसके पश्चात् अनेक आचार्यों ने संग्रह-ग्रन्थों का भी निर्माण किया। मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट, भोज और अग्निपुराणकार का नाम उल्लेखनीय है और परवर्ती आचार्यों में जयदेव तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त हेमचद्र वाग्भट प्रथम वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, केशवमिश्र और कविकर्णपूर का। मम्भट-परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों

पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है। इन सभी आचार्यों ने काव्य के सभी अङ्गों का निरूपण किया है। इनके अतिरिक्त भानुमिश्र ने दो ग्रन्थों का निर्माण किया। इनमें से रसतरंगिणी का सम्बन्ध 'रस' के साथ। है और रसमंजरी का 'नायक-नायिका भेद' के साथ। अप्पय दीक्षित के तीन ग्रन्थों में से वृत्तिवार्तिक 'शब्द शक्ति'-विषयक ग्रन्थ है, और कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा 'अलंकार' से सम्बद्ध हैं।

संस्कृत के काव्याचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी समय-समय सर्जन किया। भरत के नाट्यशास्त्र की व्यापक विस्तृत और बहुविध विषय-सामग्री यह मानने को बाध्य करती है कि यह ग्रन्थ नाट्य-विधान सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की शताब्दियों से प्रचलित परम्परा का सुपरिणाम है। भरत के पश्चात् यह परम्परा बन्द सी हो गयी। इसका कारण प्रतीत होता है कि काव्य-विधान के उत्तरोत्तर निर्माण ने आचार्यों को उस दिशा से विमुख सा कर दिया। इनके तेरह चौदह सौ वर्ष उपरान्त धनञ्जय, सागरनन्दी, रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनय और शिंगभूपाल ने प्रमुखतः नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण कर इस काव्याङ्ग का पुनरुद्धार किया। सर्वाङ्ग-निरूपक आचार्यों में अकेले विश्वनाथ ने सम्भवतः धनञ्जय के ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर नाट्य-विधान को भी अपने ग्रन्थ में सम्मिलित किया। हमारे विचार में 'नायक-नायिका भेद' का विषय काव्यशास्त्र की अपेक्षा नाट्य-शास्त्र से ही अधिक सम्बद्ध है। यही कारण है कि उक्त सभी नाट्य-शास्त्रकारों ने इस प्रसंग का भी निरूपण करना आवश्यक समझा है। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, रुद्रट, भोज, अग्नि पुराणकार, भानुमिश्र, रूपगोस्वामी, अकबरशाह आदि ने भी इस प्रकरण का शृङ्गार इसके अन्तर्गत निरूपण किया है। इनमें से रुद्रभट्ट, भानुमित्र, रूपगोस्वामी और अकबरशाह के ग्रन्थों का प्रधान विषय ही नायक-नायिका भेद है।

काव्य-सिद्धान्त और नाट्य-सिद्धान्त के अतिरिक्त संस्कृत काव्य-शास्त्र का तीसरा प्रधान विषय है—कवि-शिक्षा। राजशेखर, वाग्भट द्वितीय, अमरचन्द्र और देवेश्वर ने अपने ग्रन्थों में अन्य काव्याङ्गों के साथ इसे भी निरूपित किया है।

काव्यशास्त्रीय विचार परम्परा पाँच सिद्धान्तों में विभक्त की जाती है—अलङ्कार सिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिद्धान्त और रससिद्धान्त। इन सिद्धान्तों में से किसे काव्य-सम्प्रदाय माना जाय, एक विचारणीय प्रश्न है। 'सम्प्रदाय' शब्द से वह सिद्धान्त अभिहित किया जाना चाहिए जिसका आगे चलकर अन्य आचार्यों द्वारा अनुकरण एवं अनुगमन हुआ हो तथा इसके द्वारा उसकी मान्यताओं का विवेचन एवं परिवर्द्धन हुआ हो। इस दृष्टि से अलङ्कार, ध्वनि और रस-सिद्धान्त तो 'सिद्धान्त' कहाने के साथ-साथ सम्प्रदाय कहाने के अधिकारी हैं किन्तु रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त इसके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि न तो किसी आचार्य ने वामन तथा कुन्तक के इन सिद्धान्तों का अनुकरण किया है और इनसे सम्बद्ध धारणाओं का विवेचन एवं परिवर्द्धन ही प्रस्तुत किया गया, वरन् इनका ध्वनि एवं रसवादियों द्वारा खण्डन ही प्रस्तुत किया गया। इनके विपरीत भामह के अलङ्कार सिद्धान्त का अनुमोदन, विकास तथा परिवर्द्धन दण्डी और उद्भट द्वारा किया गया और आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का मम्मट और जगन्नाथ जैसे मर्मवेत्ता आचार्यों द्वारा। रससिद्धान्त भरत, अग्निपुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ जैसे प्रख्यात आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकृत एवं विकसित हुआ। अस्तु ! वामन के रीति-सिद्धान्त और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को यद्यपि 'सम्प्रदाय' नाम नहीं दे सकते, फिर भी अनेक कारणों से इनका निजी महत्त्व है। इनमें से एक कारण तो यह है कि ये दोनों सम्प्रदाय काव्य के बाह्य पक्ष के सिद्धान्त-निरूपक हैं। बाह्य पक्ष आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा न्यून कोटि का सही, किन्तु त्याज्य एवं उपेक्षणीय किसी भी रूप में नहीं होता।

उक्त पाँच सिद्धान्तों के अतिरिक्त इसी प्रसङ्ग में 'औचित्य-सिद्धान्त' का भी उल्लेख किया जाता है। किन्तु वस्तुतः यह अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न

काव्याङ्गों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु है। अलङ्कार आदि पांच काव्यसिद्धान्तों के प्रवर्तक एवं अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्याङ्गों को समाविष्ट करते हैं—जैसे अलङ्कारवादी एवं वक्रोक्तिवादी या अन्य काव्याङ्गों को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं—जैसे रस एवं ध्वनिवादी। किन्तु 'औचित्य' नामक काव्य-तत्व के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र इनमें से किसी भी प्रवृत्ति को नहीं अपनाते। वे सभी काव्याङ्गों को स्वीकार करते हुए उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर बल देने के पक्ष में हैं। उदाहरणार्थ गुण और अलङ्कार के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "अलङ्कार और गुण अपने उचित प्रयोग के कारण ही इन्हीं नामों से अभिहित होते हैं, अन्यथा नहीं।"[1] अलङ्कार और गुण की स्थिति क्षेमेन्द्र को भी वैसी ही स्वीकृत है जैसी कि रस एवं ध्वनिवादियों की। इसी प्रकार उन्हीं के समान वे भी काव्य को 'रससिद्ध' मानने के पक्ष में हैं। हाँ, ऐसे 'रससिद्ध' काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है।[2] दूसरे शब्दों में, काव्य का प्रधान तत्त्व रस है। और उसका 'जीवित' औचित्य है। यहां 'जीवित' शब्द से तात्पर्य है किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। केवल गुण, अलङ्कार और रस ही नहीं अपितु ऐसे अन्य २४ काव्य-सम्बद्ध तत्त्वों के विषय में भी क्षेमेन्द्र की यही धारणा है कि उनका प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए। इसी पर आधारित रहकर ही अन्य काव्याङ्ग अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं अन्यथा नहीं। इस प्रकार 'औचित्य' कोई स्वतन्त्रवाद अथवा सिद्धान्त न होकर अन्य काव्याङ्गों को उपादेय बनाने का साधन है और वे काव्याङ्ग साध्य हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त उक्त पांच काव्य-सिद्धान्तों में उधर अलङ्कार, वक्रोक्ति, रीति, रस एवं ध्वनि विभिन्न काव्याङ्गों द्वारा स्वयं साध्य माने जाते हैं तथा अन्य काव्याङ्ग इनके प्रति साधन। अतः 'औचित्य' को स्वतन्त्र सिद्धान्त मानना समुचित नहीं है।

इसी प्रसङ्ग से सम्बद्ध एक शङ्का का समाधान कर लेना अपेक्षित है। अलंकार-सिद्धान्त आदि पाँच सिद्धान्तों में कालक्रम की क्या स्थिति है? वस्तुतः इनमें से रस सिद्धान्त का प्रश्न विवादास्पद है। शेष चारों का क्रम इनके प्रवर्तकों के काल-क्रमानुसार नियत है—अलङ्कार सिद्धान्त के उपरान्त रीति-सिद्धांत और इनके उपरान्त ध्वनि-सिद्धान्त और वक्रोक्ति सिद्धान्त।

रस सिद्धान्त को स्वीकृत करने वाले प्रमुख आचार्य हैं—भरत, अग्निपुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ। इनमें से अन्तिम दो तो आनन्दवर्द्धन के परवर्ती हैं। जहाँ तक अग्निपुराण के काव्य शास्त्रीय भाग का सम्बन्ध है, इसकी तुलना अन्य काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों से करने पर हम निश्चयपूर्वक इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इसकी रचना भी आनन्दवर्द्धन के बाद हुई है। शेष रहे भरत! हमारा विचार है कि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय का प्रणयन—जिनमें क्रमशः रस और भाव का निरूपण है—या तो भामह और दण्डी के उपरान्त हुआ है, या यदि इनसे पहले इन अध्यायों का प्रणयन हो चुका था तो ये दोनों आचार्य किसी कारणवश इनका अध्ययन नहीं कर सके। शायद यह उन्हें उपलब्ध ही न हुए हों। हां यह दो आचार्य 'रस' नामक काव्य तत्त्व से परिचित अवश्य थे। सम्भवतः उन्हें यह परिचय विद्वद्गोष्ठियों द्वारा मिला हो, क्योंकि इन गोष्ठियों में रस जैसे गम्भीर तत्व पर विचार-विमर्श एवं चिन्तन अवश्य होता होगा, किन्तु भामह और दण्डी भरत प्रस्तुत रस तथा भाव विषयक चर्चा से परिचित नहीं होंगे, अन्यथा इस चर्चा से परिचित रहते हुए इसका यथावत् एवं सम्यक् उल्लेख न करना इन दोनों, विशेषतः भामह जैसे प्रौढ़ आचार्य, के लिए नितान्त असम्भव था। भरत-प्रस्तुत रस-विषयक चर्चा इतनी व्याप्त, स्वच्छ एवं उपादेय है कि कोई भी काव्य-

[1] उचित स्थान विन्यासाद् अलंकृतिरलंकृतिः
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः॥
—औ० वि० च०

[2] अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणा सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
—वही।

शास्त्री चाहे कितना भी पूर्वग्रह-ग्रस्त क्यों न हो, इससे प्रभावित हुए बिना और शायद इसका उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता। कहा जा सकता है कि भामह अलङ्कारवादी था, अतः भरत-प्रस्तुत रस का अन्तर्भाव उसने अलङ्कार में किया। किन्तु हमारे विचार में विद्वद्गोष्ठियों द्वारा रस के जिस सामान्य-से स्वरूप से वह अवगत हुआ उसी के आधार पर उसने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत कर दी। यदि वह भरत-प्रस्तुत रस विषयक विशिष्ट चर्चा से परिचित होता तो शायद ऐसी भूल न करता। अस्तु! इसके अतिरिक्त भरत कोई विशिष्ट आचार्य भी नहीं हैं। वह सम्भवतः एक संग्रह कर्त्ता हैं, जिसने कि समय-समय पर निर्मित एवं निश्चित नाट्यशास्त्रीय तथा कतिपय काव्यशास्त्रीय भी चर्चाओं, मान्यताओं एवं धारणाओं का संकलन प्रस्तुत कर दिया। इस तथ्य के स्वीकार कर लेने पर तो यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि रस एवं भाव विषयक दोनों अध्याय भामह के उपरान्त प्रणीत हुये हैं। भामह से पहले नाट्यशास्त्र में उपलब्ध रस तथा भाव विषयक प्रसंग प्रणीत हो चुके थे अथवा नहीं इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ कह सकना कठिन है, परन्तु यह निश्चय है कि भामह और दण्डी और शायद उद्भट भी इन स्थलों का अध्ययन नहीं कर सके। हाँ, रस-सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन के समय पूर्णतः प्रचरित हो चुका होगा जिसे कि इन्होंने ध्वनि पर ही आधारित किया तथा उसे इसी का ही एक उपभेद माना। आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त के बीच के काल में तो इस विषय पर जमकर विचार किया गया। लोल्लट, शंकुक, नायक तौत (तोत) जैसे मर्मज्ञ एवं गम्भीर व्याख्याता इसी काल की उपज हैं।

अस्तु! इन सिद्धान्तों का कालानुसार क्रम इस प्रकार होना चाहिये—अलंकार, रीति, रस, ध्वनि और वक्रोक्ति। किन्तु अन्ततः ध्वनि-सिद्धान्त ही स्वीकृत रहा और उसी के ही एक प्रभागस्वरूप रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा तथा उसके प्रति समादर की भावना किसी भी रूप में कम न हुई।

अस्तु! इस प्रकार दो सहस्र वर्षों की यह काव्य-शास्त्र परम्परा काव्य, नाट्य और कवि शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरन्तर सर्जन, विवेचन एवं संकलन प्रस्तुत करती रही है।

—दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संस्कृत का काव्यशास्त्रीय विकास

प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन

काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में आचार्य भरत मुनि से लेकर पं० जगन्नाथ तथा अरस्तू से लगाकर क्रोचे तक विविध मत-वाद प्रचलित हैं। कुछ विद्वान यह भी कहते है और कह सकते हैं कि काव्यतत्त्व अनिर्वचनीय है और इसलिए शब्दों में नहीं कहा जा सकता। किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने कितने नपे-तुले शब्दों में उसे स्पष्ट कर दिया है—

"अखण्ड बुद्धि समास्वाद्यं काव्यम्।"

अर्थात् काव्य संवेदनीय होता है। इस संवेदनशीलता को दर्शाने के लिए उन्होंने उसे 'अखण्ड बुद्धि समास्वाद्य' कहा है। क्योंकि संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और प्रतीति न होती हो। ये सत् के मूल निबन्धन तथा अस्तित्व के कारण हैं। इन्हीं से रस की स्थिति का पता लगता है।

आज के नये उदीयमान काव्य-कथा लेखक तथा समालोचक काव्य तक में रस एवं अलङ्कार को अग्राह्य समझते हैं। क्योंकि पुरातनता का निर्मोक, रूढ़ि-परम्पराएँ उनकी सम्प्रेषणीयता में बाधक हैं। वे जीवन को ही काव्य मानकर चलते हैं। इस सम्बन्ध में, मैं यहाँ संस्कृत के आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

संसार का सबसे बड़ा आनन्द भोग माना जाता है। छोटे-बड़े सभी इस पर एक मत हैं। लेकिन स्वयं भोग क्या है, यह एक बड़ा विकल्प एवं प्रश्न है। काव्यशास्त्रकारों ने 'आस्वादन' को ही 'भोग' माना है। इसमें वही आनन्द की अनुभूति होती है जो परमानन्द प्राप्ति के समय होती है। शब्द-बोध तथा उपपत्ति ज्ञान आदि से वह भिन्न दशा होती है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न साधनों या वृत्तियों की घटकता से एक ही ज्ञान विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। वैसे ही 'संविति' रस, अलङ्कार, रीति, वृत्ति आदि के नाम से जानी जाती है। संभव है कि विद्वान इस पर सम्मत न हों पर मुझे तो यही ठीक जान पड़ता है। संवेदनीयता का बहुत कुछ सम्बन्ध 'संस्कार' से है। प्रत्येक प्राणी में वासना रूप में कुछ न कुछ संस्कार रहते ही हैं। यही नहीं, इनका सम्बन्ध पूर्व जन्म से भी माना जाता है। महाकवि कालिदास भी यही मानते हैं।

यद्यपि रसना इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'आस्वादन' के नाम से प्रसिद्ध है। पर जब तक चित्त विस्फार नहीं होता रस की सम्यक् अनुभूति नहीं हो सकती। अतएव जैन काव्य शास्त्री सम्यक् ज्ञान जन्य विलक्षण अनुभूति को 'रस' मानते हैं। जो भी हो, भारतीय साहित्य शास्त्र में 'रस' तथा दर्शन शास्त्र में 'आत्मा' का जैसा सटीक, युक्तियुक्त विवेचन मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। समूचे काव्यशास्त्र में 'रस' की उपलब्धि सबसे बढ़कर है।

काव्य तथा नाट्यशास्त्र के रूप में भरतमुनि का ही ग्रन्थ आज उपलब्ध है। पहली बार उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' में उपमा, दीपक, रूपक और यमक नाम के चार अलङ्कारों का विवरण दिया है। अलङ्कार, कथन-शैली की भिन्नता के कारण, अभिव्यक्ति-भेद से विविध नाम-रूपों से अभिहित हुए हैं। अतः भामह (छठी शताब्दी) तक पहुँचते-पहुँचते अलङ्कारों की संख्या बहुत बढ़ गई है। उन्होंने 'काव्यालङ्कार' में ४३ अलङ्कारों का विवेचन किया है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों में मेधाविरुद्ध का नामोल्लेख मिलता है। महर्षि यास्क तथा उनके पूर्व आचार्य गार्ग्य 'उपमा' का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत कर चुके थे। इसी प्रकार शुद्धोधनि, नन्दीस्वामी काश्यप तथा परायर्श आदि आचार्यों का भी पता लगता है। किन्तु 'काव्यालङ्कार' अध्ययन से यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि आचार्य भामह अपने युग के सबसे बड़े शास्त्री थे। उन्होंने काव्य को व्याव-

पठनीय !   मननीय !!   संग्रहणीय !!!

हमारे साहित्यिक प्रकाशन

डा० नगेन्द्र-साहित्य

पुस्तक	मूल्य
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	१०.००
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	१६.००
अनुसन्धान और आलोचना	४.००
कामायनी के अध्यन की समस्याएँ	३.००
देव और उनकी कविता	७.००
रीति-काव्य की भूमिका	५.५०
विचार और अनुभूति	४.५०
विचार और विवेचन	४.५०
विचार और विश्लेषण	५.५०
सियारामशरण गुप्त	५.५०
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	४.००

प्रमुख नवीन प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	मूल्य
मालवीयजी के लेख :	सं० पद्मकान्त मालवीय	८.००
मालवीयजी — जीवन झलकियाँ :	,,	८.००
पुराण कथा-कौमुदी :	पं० रघुनाथदत्त बन्धु	१०.००
न मीत न मंजिल (उप०) :	रेवतीसरन शर्मा	५.००
हृदय का काँटा (उप०) :	तेजरानी पाठक	३.००
अर्थहीन :	डा० रघुवंश	४.५०
रेबेका :	दाफिनी दु मोरियर	८.००
अन्तराल की लहरें :	आइजक ऐसिमोव	५.००
लिच्छवियों के अंचल में :	डा० जगदीशचन्द्र जैन	३.५०

समालोचना साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
डा० नगेन्द्र के आलोचना सिद्धान्त :	नारायणप्रसाद चौबे	७.००
हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण :	महेन्द्र चतुर्वेदी	६.००
ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प :	डा० सावित्री सिन्हा	२०.००
खड़ीबोली काव्य में अभिव्यंजना :	डा० आशा गुप्ता	१६.००
हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध :	डा. उदयभानुसिंह	१०.००
समीक्षात्मक निबन्ध :	डा० विजयेन्द्र स्नातक	५.५०
गुप्तजी की काव्य-साधना :	डा० उमाकान्त	१५.००
अनुसन्धान की प्रक्रिया :	डा० स्नातक एवं डा० सिन्हा	५.००
नाट्यकला :	डा० रघुवंश	७.५०
भारत की लोक कथाएँ :	सीता	८.००
भारतीय कला के पदचिन्ह :	डा० जगदीश गुप्त	५.००
प्रकृति और काव्य (हिन्दी) :	डा० रघुवंश	१२.००
प्रकृति और काव्य (संस्कृत) :	,, ,,	
उपमा कालिदासस्य :	डा० शशिभूषणदास गुप्त	३.००
प्रेमचन्द के नारी पात्र :	ओम अवस्थी	
आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ :	डा० निर्मला जैन	
साहित्य समीक्षा :	मुद्राराक्षस	

ये पुस्तकें आपके पुस्तकालय की स्थायी निधि सिद्ध होंगी। हमारे समस्त प्रकाशनों के सूचीपत्र की माँग करें! पुस्तकें अपने निकटस्थ पुस्तक-विक्रेता अथवा सीधे हमसे प्राप्त करें।

नेशनल पब्लिशिङ्ग हाउस,

चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली—६

हारिक दृष्टि से समझा था। इसलिए वे काव्य के मूल में 'शब्द' और 'अर्थ' को मुख्य मानते हैं। सबसे पहली बार उन्होंने इस मान्यता का उद्घोष किया था कि वक्रोक्ति समस्त अलङ्कारों के मूल में है। आगे चलकर दसवीं शताब्दी में आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' नाम से एक अलग सम्प्रदाय ही चला दिया। वस्तुतः इसका श्रेय भामह को है। यही नहीं आचार्य भामह की सभी मान्यताएं किसी न किसी रूप में परवर्ती प्रायः सभी-साहित्य शास्त्रियों को मान्य हुई।

भामह के ही समकालीन आचार्य दण्डी हुए हैं। यद्यपि इन्होंने अलङ्कार-सम्प्रदाय का अनुगमन किया है पर रीतियों के परस्पर सम्बन्ध तथा भेद को दर्शाने वाले पहले विद्वान् यही थे। यथार्थतः रीति सम्प्रदाय के बीज इनके 'काव्यादर्श' में बिखरे हुए हैं। इसी काल के अन्य साहित्य-शास्त्री हैं—लोल्लट। इनका प्रसिद्ध रस-ग्रन्थ 'रसविवरण' अभी तक उपलब्ध नहीं होसका है। इनका समय सातवीं शताब्दी कहा जाता है।

आचार्य उद्भट आठवीं शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने 'काव्यालङ्कार' में ४७ अलङ्कारों का विवरण निरूपण किया है। 'भामह विवरण' नामक अन्य व्याख्यात्मक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। इस प्रकार आठवीं शताब्दी तक रस तथा अलङ्कार शास्त्र का भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्रभाव रहा है।

नवीं शताब्दी के लगते ही आचार्य वामन के दर्शन होते हैं। इस युग में अनुमितिवाद के पुरस्कर्त्ता आचार्य शंकुक, प्रसिद्ध काव्यशास्त्री रुद्रट तथा ध्वनिमार्ग के प्रवर्टक आचार्य आनन्दवर्धन हुए। संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में ई० ६०० से १००० ई० तक का युग स्वर्ण-काल के नाम से अभिहित किया जा सकता है। राज-शेखर, मुकुल, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक, भट्टतौत, कुन्तक, धनञ्जय, आ० अजितसेन, वाग्भट, अभिनवगुप्त आदि इसी युग की देन हैं। 'अग्निपुराण' भी दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का माना जाता है। यह युग साहित्य की प्रायः सभी विधाओं (Trends) से पूर्ण तथा काव्यमार्गों से समन्वित रहा है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने रस की जिस उत्कृष्ट व्यञ्जना का प्रतिपादन किया है वह व्यंग्य अथवा ध्वनि शब्द से जाना जाता है। रस की इस परा कोटि तक सम्भवतः कोई समालोचक या आचार्य नहीं पहुँच सका है। यद्यपि महिमभट्ट (ई० १०२०—१०६०) ने 'व्यक्तिविवेक' में अनुमान के अन्तर्गत ध्वनि का समा-हार किया है, किन्तु वे इस मार्ग में पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। आचार्य मम्मट (११०० ई०) ने उसका पूर्ण रूपेण खण्डन किया है।

'अभिनव भारती' तथा 'ध्वन्यालोक लोचन' में अभिनव गुप्त ने स्पष्ट रूप से रस की महत्ता प्रतिष्ठित कर रस के बिना औचित्य को निरर्थक माना है। पर-वर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र (ई० १०२५- ६०) ने 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य को रस का प्राणभूत सिद्ध किया है। किंतु यथार्थ में औचित्य रस का अंगभूत है, अंगी नहीं।

आचार्य रुद्रट ने 'काव्यालङ्कार' में अलङ्कारों के विभिन्न भेदों का निरूपण किया है। उनके बाद ही आचार्य मम्मट ने ६१ अलङ्कारों का विवेचन कर रस, रीति, अलङ्कार, व्यंग्य आदि का समास शैली से युक्ति-युक्त तथा सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया है। किन्तु रुद्रट ने अलङ्कारों के मूल में जिन चार तत्त्वों को माना है वे शाश्वत सत्य की भाँति स्वीकार्य हैं। उनके नाम हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई नये अलंकारों का भी निर्वाचन किया जो उद्भट के 'काव्यालङ्कार सार संग्रह' में नहीं मिलते।

आज का यथार्थवाद 'वास्तव' की प्रतीति की ही अभिव्यक्ति है। जीवन की यथार्थता को (चाहे वह भोंड़ी तथा विरूप हो) वह 'वास्तव' की पृष्ठभूमि पर ही उपस्थापित करता है। प्राचीनों ने इसे इस रूप में नहीं माना था। उनकी मूल भावना 'सत्य, शिव, सुन्दर की त्रिपथगा से अनुरञ्जित थी। 'उपमा' तो अलङ्कार के रूप में सदा से बनी रही है और बनी रहेगी। क्योंकि काव्यात्मक वर्णन जितनी सरलता से इसमें सम्भव है, अन्य में नहीं। थोड़ी-बहुत समता देखते ही हम एक-दूसरे को गुण, वर्ण, आकृति या रूप-रेखा के आधार पर समान कह उठते हैं। आ० वामन ने तो समस्त अर्थालङ्कारों का प्रपञ्च उपमा माना है।

साहित्य-शास्त्र में जितने अधिक भेद इस अलङ्कार के मिलते है उतने किसी दूसरे कें नहीं। उपमा से कई अलङ्कारों का विकास हुआ है।

संक्षेप में अलङ्कारशास्त्र के मुख्य रूप से छः सम्प्रदाय हैं—रस, अलङ्कार, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य। इन सभी आलङ्कारिकों का प्रयोजन रस के पोषक विभिन्न काव्य-तत्त्वों का विवेचन रहा है। यही कारण है कि वे गुण, वृत्ति, रीति आदि को रस से समन्वित स्वीकार करते हैं। 'ध्वन्यालोक' में इसका सटीक प्रतिपादन मिलता है। आ० अभिनवगुप्त भी 'रसादिध्वनि' को आत्मा मानते हैं। वस्तुतः भारतीय रस धारा की यह परम्परा पण्डितराज जगन्नाथ तक अप्रतिहत रूप से विकसित हुई है जिसका परिष्कार हमें 'ध्वनि' में लक्षित होता है। यह वस्तु, अलङ्कार तथा रस के भेद से तीन प्रकार मानी गई है। फिर उसके अविवक्षित वाच्य विवक्षितान्यपरवाच्य, संलक्ष्यक्रम, असंलक्ष्यक्रम, शब्द शक्ति मूल तथा अर्थ शक्तिमूल से मुख्य छः भेद माने गये हैं। साहित्य-शास्त्र में इस पर इतना सूक्ष्म विवेचन हुआ है कि इसकी संख्या १०४४ तथा अनन्त कहकर चरम रूप प्रतिपादित हुआ है।

आचार्य मम्मट (११०० ई०) के अनन्तर पंडितराज जगन्नाथ ने ही इसका पुनर्विवेचन करने का प्रयत्न किया है। पं० विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में संकलन मात्र प्रस्तुत कर विवरण दिया है। हाँ, नाट्यशास्त्र की व्याख्या में अवश्य मौलिकता के दर्शन होते है। पं० अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में सबसे अधिक अलंकारों की व्याख्या प्रस्तुत की है। यही नहीं, कई नये अलंकारों का विवेचन भी उसमें मिलता है। अतएव अलंकारों की संख्या सौ को भी पार कर गई है। लगभग डेढ़ सौ अलंकारों का निरूपण उसमें हुआ है। किन्तु विस्तार के साथ प्रत्येक अलंकार का सटीक विवेचन 'रस-गंगाधर' में ही पहली बार दिखाई देता है। परन्तु पं० जगन्नाथ अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सभी अलंकारों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत न कर सके। परिणामतः उनका वह ग्रन्थ आज तक अधूरा है। उनके बाद संस्कृत में कई काव्यशास्त्र लिखे गये और—यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से अठारहवीं शताब्दी तक बनी रही पर उनमें मौलिकता नाम मात्र को भी नहीं मिलती। यथार्थ में संस्कृत का काव्यशास्त्रीय विकास मुस्लिम युग में अवरुद्ध-सा हो गया। इसके दो ही कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि रस, अलंकार और—ध्वनि सम्बन्धी इतना गम्भीर तथा सूक्ष्म विचार हो चुका था एवं दर्शनशास्त्र के साथ समन्वय स्थापित हो गया था कि दर्शन के मूल सिद्धान्तों तथा भाषा (न्याय शैली पर लिखित संस्कृत) के अध्ययन के बिना लक्षण—शास्त्र सम्बन्धी विवेचन का रहस्य पाना दुष्कर था। दूसरे विजातीय संस्कृति एवं साहित्य की ओर जनता की रुचि बढ़ने लगी थी। समय और—वातावरण के अनुसार—शृंगारिक प्रवृत्तियों का बढ़ना स्वाभाविक ही था। हिन्दी में ही नहीं संस्कृत में भी—इस युग की कविता शृंगारिकता से ओतप्रोत है। सम्भवतः अन्य भाषाओं में लिखित साहित्य भी, इसी मूल प्रवृत्ति से प्रभावित होगा।

इस प्रकार संस्कृत का काव्यशास्त्रीय विकास उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्म होता गया है। उसकी मूल भावना यदि अलंकार—प्रदर्शन में है तो चरम भावना व्यंग्य—ध्वनि एवं स्फोट में है। इसे दार्शनिक ही नहीं वैयाकरण भी उचित मानते हैं। इसका विस्तृत विवेचन हमें 'परमलघु—मंजूषा' और 'अभिनव-लोचन' में मिलता है। वस्तुतः भारतीय वाङ्मय की मूल आनन्दवादी भावना को पुरस्कृत करने में इन आचार्यों का पूर्ण योग रहा है। इस आनन्दवादी काव्य परम्परा में आनन्दवर्धन, भट्ट—तौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट और हेमचन्द्र ही नहीं विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन सरस्वती तथा पं० जगन्नाथ की भी गणना की जाती है। किन्तु जीवन के अन्य पक्ष का भी विवेचन करने वाले आचार्य भारतवर्ष में हुये हैं। इन्होंने दुःखवादी परम्परा को आगे बढ़ाया है। इनमें रामचन्द्र और गुणचन्द्र मुख्य हैं। उभयविधि संस्कृत के काव्यशास्त्रों का विकास हुआ है तथा सभी प्रकार के भावों और रसों का प्रतिपादन इसमें मिलता है—यही सबसे बड़ी विशेषता है। —गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, रायपुर।

हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी विकास

प्रो० मक्खनलाल शर्मा

हिन्दी तथा अन्य सभी प्रचलित भाषाओं में आज सैद्धान्तिक की अपेक्षा प्रभावात्मक एवं व्याख्यात्मक आलोचना पद्धतियों का प्राधान्य है। प्रगतिवादी आलोचना पद्धति भी इसका अपवाद नहीं है। अधिकांश प्रगतिवादी आलोचकों ने सिद्धान्त निरूपण की अपेक्षा व्याख्यात्मक रूप पर ही जोर दिया है। प्रगतिवाद मार्क्सवादी दर्शन की साहित्यिक परिणति के रूप में ही सामान्यतः स्वीकार्य है, यद्यपि प्रगतिवाद को लेकर जो विचार विमर्श हुआ है उसमें कुछ अन्य मान्यताएँ भी सामने आई हैं। यहाँ यही दृष्टिकोण सामने रखा है।

मार्क्स-दर्शन के कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं, जिनका कि प्रगतिवादी साहित्य तथा साहित्यकारों पर प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है—

(१) मार्क्सवादी दर्शन ब्रह्म की सत्ता अस्वीकार करके जगत् का आधार भूत को मानता है। इसीलिए इस सिद्धान्त को भौतिकवादी माना गया है।

(२) विकास का आधार द्वन्द्व पद्धति है जो सभी पदार्थों, स्थितियों तथा विचारों का विकास करती रहती है। सभी कालों में यह विकास क्रम निरन्तर चलता है—यह क्रम शाश्वत है। इस पद्धति के कारण ही इसे द्वन्द्वात्मक कहा गया है।

(३) मार्क्स-पूर्व इतिहास की व्याख्या जिस प्रकार की गई थी उसे अवैज्ञानिक मानते हुए मार्क्स ने उसे अर्थ सम्बन्धों, उत्पादन, उत्पादन साधनों तथा विनिमय पर आधारित बताया। अर्थ-सम्बन्धों के बदलते ही समाज बदल जाता है। शोषण तथा दोषपूर्ण विनिमय के कारण समाज वर्गों में विभाजित हो जाता है, वर्गों में संघर्ष चलता है। शोषक सरकार पर अपना अधिकार करके शोषितों को दबाए रखते हैं। जब वर्गसङ्घर्ष अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है, पूँजीवाद की प्रगति रुक जाती है तभी सर्वहारा सङ्गठित होकर सारे साधनों, सम्पत्ति तथा शासन पर अपना अधिकार कर लेता है। सर्वहारा के अधिनायकवाद द्वारा निहित स्वार्थवालों को रोक दिया जाता है और धीरे-धीरे वर्गविहीन समाज व्यवस्था स्थापित होती है।

इन सिद्धान्तों का साहित्य में प्रतिफलन सीधा नहीं होता। साहित्य न राजनीति है और न दर्शन। वह सौन्दर्य शास्त्र के नियमों से अनुशासित है। अतः उसमें सर्वप्रथम सौन्दर्य की मान्यता स्वीकृत है, तत्पश्चात् अन्य किसी विचारधारा या वाद की।

प्रगतिवादी आलोचकों ने साहित्य को दिशा देने के लिए कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए हैं, किन्तु उनमें भी आपस में कुछ विरोध है और इस विरोध का कारण हिन्दी-आलोचकों की विचारणा का अन्तर नहीं है, वरन् मार्क्सवादी विदेशी विचारकों का भेद ही इन पर यहाँ आया है जो देश, काल और परिस्थिति भेद से भिन्न प्रतीत होता है।

हिन्दी-विचारकों में साहित्य को राजनीति से सम्बन्धित मानने वालों में दो वर्ग हैं। एक उसे राजनीति का अनुगामी मानते हैं, पार्टी तथा पार्टी के कार्यक्रमों का प्रचार साहित्य का उद्देश्य ठहरा देते हैं।[१] दूसरे वे हैं जो साहित्य को जीवन और समाज से सम्बन्धित तो मानते हैं, सुधार में भी विश्वास करते हैं किन्तु पहले उसे सौन्दर्य के नियमों से अनुशासित करना चाहते हैं तथा प्रचार और वाद को दूसरा स्थान देना ही इन्हें इष्ट है। ये लोग अपने पक्ष में प्रबल तर्क यह देते हैं कि हमारा उद्देश्य साहित्य में जितना ही गुह्य होगा, उतना ही साहित्य अधिक शक्तिशाली बन जायगा और पाठकों पर उसका उतना ही व्यापक और गम्भीर प्रभाव पडेगा। गोर्की ने इस सिद्धान्त का प्रति

[१] इस वर्ग में लेनिन, शॉ, माओ, चाङ्ग आदि आते हैं, हिन्दी में एक वर्ग इसका समर्थन करता रहा है।

पादन करके साहित्य को भौंडा प्रचार मात्र बनने से रोका। हिन्दी में आज इस सिद्धान्त का ही जोर है, यह दूसरी बात है कि व्यवहार में यह कितना आसका है।[१]

प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति निम्न सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में स्वीकार करके चलती है। १—ऐतिहासिक दृष्टिकोण, २—सामाजिक परिस्थिति, ३—आर्थिक सम्बन्ध, ४—सांस्कृतिक गतिविधि, ५—वर्गसंघर्ष, ६—लोक जीवन तथा उसके विविध पहलू, ७—व्यक्ति और व्यक्ति का संबन्ध ८—व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध, ९—समाजवादी यथार्थ, १०—समाज के उपयोग का दृष्टिकोण, ११—जनवाद, १२—शोषितों का पक्ष समर्थन, १३—समाज मङ्गल, १४—वस्तुगत दृष्टिकोण का आग्रह, १५—साहित्य किसके लिए—बहुजन-हिताय, १६—मानवतावाद, १७—इस दृष्टिकोण के विरोध में पड़ने वाली मान्यताओं का खण्डन।

मार्क्सवादी साहित्य और कला को संस्कृति का अङ्ग मानकर उसके द्वारा वर्ग सङ्घर्ष को अधिकाधिक उत्तेजित करने में विश्वास करते हैं। इसके लिए घृणा का उपयोग भी वे एक उदात्त भाव की भाँति करते हैं। सङ्घर्ष के पश्चात् तथा सत्ता के सर्वहारा के हाथ में आने पर साहित्य और कला भौतिक विकास तथा आनन्द देने में सहायक होंगे—ऐसा माना जाता है। प्रगतिवादी कला और साहित्य की जीवन तथा समाज की सापेक्षता में ही देख पाते हैं। निरपेक्षता में नहीं, इसीलिए वे कलावादियों की मान्यताओं के विपरीत हैं।

कुछ आलोचकों ने हिन्दी में प्रगतिवाद के उस रूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी किया है जो कि वह नहीं है। आलोचना सं० २६ पृष्ठ ६४–६५ पर उसकी विशेषताओं में यथार्थ चरित्रों की सामाजिक विशिष्टताओं का निर्वैयक्तिक का जो उपयोग विद्वान लेखक ने यहाँ किया है, वह मार्क्सवाद में कभी भी स्वीकार्य नहीं हुआ है। क्या महान उपन्यासकार गोर्की के पात्र सामाजिक विशेषताओं के निर्वैयक्तिक चित्र हैं? इस विषय पर अभी और विचार होना अपेक्षित है।

प्रगतिवादी साहित्य का प्राण यथार्थवाद को माना गया है। यथार्थवाद की परिभाषा अनेक आचार्यों ने की है। मार्क्सवादी आलोचक आचार्य लुकाच यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए व्यक्तिगत विशेषताओं को सम्यक् स्थान देना आवश्यक मानते हैं।[१] मार्क्स और ऐंगिल्स ने भी व्यक्तिगत विशेषताओं की पूर्ण अस्वीकृति कहीं नहीं दी है।

कला को राजनीति का अनुगामी मानने वाले मार्क्सवादियों के अतिरिक्त एक समूह ऐसा भी रहा है जो कला के क्षेत्र में पार्टी की दखलन्दाजी नहीं पसन्द करता[२]। इस आन्दोलन के समर्थक किसी न किसी रूप में आज भी साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता को सुरक्षित रखे हुए हैं। मार्क्सीय सौन्दर्य शास्त्री कॉडवेल ने कला और साहित्य को अर्थ सम्बन्धों का परिणाम कहा है।[3] और अपने ग्रन्थ में काव्य का विवेचन करते समय भी इस पद्धति को व्यावहारिक रूप दिया है जो न मार्क्सीय है और न कोर्नफोर्थ, कैटिल जैसे वर्तमान काव्य-शास्त्रियों को ही स्वीकृत है। इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि अन्य पद्धतियों के समान प्रगतिवादी शास्त्र परम्परा धीरे-धीरे विकसित हो रही है और जो लोग नियमों को पकड़कर उन्हें ही रूढ़िवादी पद्धति से लागू करते हैं वह प्रगतिवाद के विरोधी हैं।

प्रगतिवाद के पश्चात् प्रयोगवादी मान्यताओं का विश्लेषण भी अनिवार्य है।

---

[१] हिन्दी में शिवदानसिंह चौहान आदि इसी मत के समर्थक हैं।

[१] 'Realism means a three diamensionality, an all roundness, that endows with independent life characters and human relationships' (Introduction to the Studies of European Realism Page 6.)

[२] ट्राटस्की को इस मत का प्रवर्तक कहा जा सकता है। 'कला का क्षेत्र वह नहीं है, जिसमें पार्टी को आज्ञा देने की जरूरत पड़े....'

[3] Illusion and Reality, Page 14.

प्रयोगवादी काव्यशास्त्र

हिन्दी में छायावाद और प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में जिन व्यक्तिवादी मान्यताओं पर आधारित नवीन काव्य-दर्शन का जन्म हुआ है उसे अनेक नाम दिए गए हैं तथा दिए जा रहे हैं। इस पर कुछ नए-पुराने फ्रेंच कला वादियों का प्रभाव मनोविज्ञान के सहारे होता गया है। नेचुरलिज्म, सुररियलिज्म, एक्सपेरीमेण्ट लिज्म, एक्जिस्टैन्सिलिज्म, सिम्बौलिज्म, फ्रायड के साइकोएनेलैसिस, फ्री ऐसोसिएशन, ड्रीम-थियरी तथा शैलीगत नवीन प्रयोगों का समन्वित रूप प्रयोगवाद (आज इसे नई कविता कहा जा रहा है।) माना जा सकता है।

प्रारम्भ में इसकी मुख्य मान्यताएँ निम्न थीं—

१—नई राह का अन्वेषण सबका समान उद्देश्य है।

२—प्रयोगशीलता के प्रति ललक सब में है।

३—कला का केन्द्र व्यक्ति है।

४—प्रगतिशीलता हमारा गुण है।

५—काव्य सामाजिक महत्त्व की वस्तु है।

६—अहंवाद तथा बुद्धिवाद काव्य-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं।

७—कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्तर देना और उसको शुभ बनाना है।

८—विषय से टेकनीक अधिक महत्त्वपूर्ण है।

९—मुक्त छन्द का प्रयोग होना चाहिए।

१०—ध्वनियों का ध्यान रखना अपेक्षित है।

११—कविता और पाठक के बीच सीधा भाव-विनिमय होना चाहिए।

१२—काव्य के कारण और हेतु नियम बन्धन रहित हैं।

१३ बिम्बवाद कविता नहीं है।

१४—भाषा में प्रादेशिक शब्दावली का अधिकाधिक प्रयोग स्तुत्य है।

१५—शब्द की लय का स्थान अर्थ की लय को लेना चाहिए।

१६—भदेसपन होना अनिवार्य गुण है।

१७—व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाना कविता का उद्देश्य है। प्रयोग की यही सार्थकता है।

१८—यौन वर्जनाएँ सौन्दर्य चेतना पर सवार होकर काव्य में साकार होती हैं।

१९—साधारणीकरण का प्रश्न व्यर्थ है।

इन मान्यताओं को स्वीकार करने वाले सप्त महारथियों के क्षेत्र मौलिक रूप से भिन्न-भिन्न थे, जिस अनायास रूप से वे जुड़े उसी प्रकार अलग भी हुए। दूसरे सप्त महारथियों को नत्थी किया गया। उन्होंने कुछ और नई मान्यताएँ दीं, बिखराहट जो इन संयोगों का गुण था वह दूसरे और तीसरे सभी प्रयत्नों को अपने क्रोड़ में लेने लगा। महारथियों ने काव्य तथा शास्त्र दोनों रचे हैं। वे कवि भी हैं तथा शास्त्रकार भी। शास्त्रकार की दृष्टि से निम्न सिद्धान्तों का निर्माण किया गया है—

१—प्रयोग साधन है, साध्य नहीं।

२—प्रयोगों का कोई वाद नहीं हो सकता।

३—साधारणीकरण का परम्परागत अर्थ अग्राह्य है—उसका नया अर्थ हो गया है और वही उचित है।

४—नई कविता में अंध जड़ता की अभिव्यक्ति है। आज की कुण्ठा व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक है।

५—बौद्धिकता आज की नई कविता का प्राण-तत्त्व है।

६—नई कविता में परिप्रेक्ष्य, नवीन धरातल, मानववाद, नवीन सौन्दर्य बोध, सामाजिक दायित्व अहंवाद, आधुनिकता, यान्त्रिक विकास आदि का प्रभाव अनिवार्य है। नये काव्य के ये स्वीकृत तत्त्व हैं।

नई कविता के समर्थक लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने प्रतिमानों में वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वप्रथम स्थान दिया है। वे वैज्ञानिक विश्लेषण, बौद्धिक जागरूकता, विघटित मूल्यों का तिरस्कार, आस्था, सत्यानुभूति आदि का समर्थन करते हैं। कवि की ईमानदारी वे जीवन के 'तादात्म्यसत्य' को अवतरित करने में मानते हैं। उनका कथन है—

जो जीवन के तादात्म्य सत्य को उस महत्त्वपूर्ण अनुभूत क्षण में अवतरित करना चाहती है जिसमें देश, काल

और अन्य मर्यादाएँ उस सत्य के माध्यम से अभिव्यञ्जना ग्रहण करने की चेष्टा करती हैं, जिसमें ईमानदारी और सहृदयता दोनों का साम्य रहता है। इस महत्त्वपूर्ण अनुभूत सत्य की सहज सम्भावना नई कविता का स्वर है।" [प्रतिमान : पृष्ठ ३७]

नई कविता की यह मान्यता प्रयोगवादियों की उन्मुक्त-प्रवाह-शैली (Free association) का ही एक रूप है। उन्मुक्त शैली में तारतम्यहीनता सबसे बड़ा गुण (?) होता है, जिसकी रक्षा सैद्धान्तिक रूप से यहाँ की गई है। इसी प्रकार आस्था का नारा लगाकर अनास्था को तथा सामाजिकता के नाम पर कुंठा को नियमित मान्यता देकर नवीन मानदण्डों की स्थापना की घोषणा की गई है, जिन्हें न प्रगतिवादी स्वीकार कर सके हैं और न आदर्शवादी।

नई कविता की मान्यताएँ जो कवि-समीक्षकों में सर्वत्र व्याप्त रोग की तरह मिलती हैं मुख्यत: सार्त्र (ज्याँ पॉल सार्त्र) से प्रभावित हैं। सार्त्र की मान्यताएँ सूत्र रूप में इस प्रकार गिनाई जा सकती हैं।—

१—सार्त्र की मान्यताओं का मूल स्वतंत्रता है। वे आत्मा, सत्ता, प्रकृति तथा संकल्पशक्ति की स्वतंत्रता तथा स्वच्छन्द प्रयोगों से भरे जीवन को स्वीकार करना श्रेयष्कर मानते हैं।

२—'सत्ता' को वे सुदृढ़, स्पष्ट, ठोस तथा निश्चयात्मक मानते हैं।

३—'चेतना' की व्याख्या करते हुये वे उसे अपने से भिन्न रह कर ही वस्तु सत्ता का अनुभव करने में समर्थ ठहराते हैं। यह अनुभव अपने से भिन्न होता है। चेतना के कारण ही मनुष्य स्वतंत्र है।

४—ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है। मानव सर्व स्वतंत्र तथा स्वभाग्य निर्णायक है। चेतना और संकल्प ही उसके भविष्य का संयोजन करते हैं। मानव का यह कथन है कि हम स्वतंत्र नहीं हैं—असत्य कथन है। हम सदैव, प्रत्येक स्थिति में स्वतंत्र हैं।

५—जगत् मूल्य-विहीन, निष्क्रिय एवं निरपेक्ष है। जगत् के पदार्थों का मूल्य हम निश्चित कर देते हैं। उसी के आधार पर नैतिक मानदण्ड निर्मित होते हैं, अत: इन्हें मानवीय एवं सापेक्ष ही मानना चाहिये। मानदण्ड निर्धारण में आवश्यकता तथा उपलब्ध तृप्ति का ध्यान रक्खा जाता है।[1]

६—व्यक्ति जगत् के सम्पर्क में आता है। जगत् का अनुभव अपनी चेतना के माध्यम से करता है। अनुभूति से प्रेरित होकर जिसमें (बौद्धिक और वासनात्मक दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ रहती हैं) अपनी सृजन क्रिया करता है। इस सृजन पर ही उसके भविष्य का रूप खड़ा होता चलता है। एवं उसका व्यक्तित्व भी वैसा ही बनता चला जाता है। व्यक्ति के स्वनिर्मित मानदण्डों से भिन्न स्वरूपधारी उन मानदण्डों की प्रतिभा बन जाते हैं। और परिणाम यह होता है कि व्यक्ति कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता है। इस सन्तोष का प्रयत्न ही संघर्ष है जो आदिम युग से चला आया है और सदैव तक बना रहेगा।

७—मनोविज्ञानानुमोदित मान्यताएँ सार्त्र को अस्वीकार रही हैं।

८—व्यक्तियों के अस्तित्व वृत्त जब आपस में टकराते है तभी मानवीय भावों को प्रेरित कर पाते हैं। मानव के चेतना केन्द्रों से चुम्बकीय तरंगें उठती हैं। ये तरंगें कहीं सहयोग और कहीं असहयोग करती हैं—यही आकर्षण और विकर्षण का कारण बन जाती हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि मानवीय सम्बन्ध कितने खोखले हैं।

९—अस्तित्ववादी सार्त्र आकस्मिकता—भाग्य को भी मानते हैं। इसकी वे छ: दशायें मानते है। दुर्घटनाओं में चाहे परिस्थितियाँ प्रबल सिद्ध हो जाती हों किन्तु उनके परिणामों की स्वीकृति हम ही देते हैं—तभी तो आत्महत्या की अपेक्षा हम विकलांग रूप में

[1] We have neither behind us nor before us in a luminous realm of value any means of justification or excuse. We are left alone without excuse.
(Sartre: Existentialism and Humanism : Page 34.)

जीवित बने रहते हैं ।

१०—मनुष्य जीवन का मूल्यांकन उसकी उपलब्धि पर न होकर उसके संकल्पात्मक निर्णयों एवं प्रतिमानों पर ही होना समीचीन है ।

११—व्यक्ति का निर्णय तथा कार्य समष्टिगत भी है वृष्टि एवं समष्टि का यह संख्यात्मक रूप अस्तित्ववाद की अपनी विशेषता रखता है । सभी निर्णय जो हम करते हैं हमारे और मानव मात्र के लिए शुभ होते हैं । (वे अपने को प्रबुद्ध चेतना वाले विशेष व्यक्ति मानते हैं ।)

सार्त्र की इन मान्यताओं की कसौटी पर यदि प्रयोगवादियों के साहित्य को कसें तो हमें निराशा ही अधिक मिलती है । प्रयोगवादी साहित्य में कुण्ठा, ह्रासशील मनोवृत्तियाँ, निराशा, धुरीहीनता, क्षुद्रता, यांत्रिकता, निष्क्रियता, अपंगु मनोदशा, दुर्बलता, ध्वस्तता, असंतुलन, मानव जीवन की व्यर्थता यौन आकर्षणों का घृणा पूर्ण चित्रण, आर्थिक अनिश्चय, अनास्था, पलायन तथा लक्ष्यहीनता आदि का चित्रण, मिलता है । कहीं-कहीं व्यक्तित्व का द्वैतमूलक रूप—खोखलापन (जैसे खाली कुर्सी की आत्मा में) आदि सजीव एवं मार्मिक रूप में अवश्य चित्रित हो सका है, अन्यथा अधिकांशतः निराश होना पड़ता है ।

'सोया हुआ जल' टेकनीक की दृष्टि से ही कुछ है, अन्यथा काव्य की दृष्टि से उसमें न कुछ नया है और न व्यञ्जक । सार्त्र के 'बुद्धिवाद का युग' में निर्णय लेने से पूर्व की मनोदशा का जैसा वैविध्यपूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण हो सका है । वैसा प्रयोगवाद के नाम पर लिखी गई दर्जनों पुस्तकों में से किसी में होना तो दूर—उसकी परछाईं तक नहीं है ।

प्रयोगवादी काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का जब हम मूल रूप अंग्रेजी और फ्रेंच में देखते हैं, तब भी हमें निराशा होती है । जिन तथ्यों को 'साहित्य क्या है' ? (What is literature) पुस्तक में ज्याँपोल सार्त्र ने अत्यन्त ही सुलझी भाषा तथा तथ्यपूर्ण शैली में व्यक्त कर दिया है । उसकी छाया जब हमें हिन्दी की पुस्तकों (लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि की पुस्तकें) में पढ़ने को मिलती है तो शब्दाडम्बर तथा पुनरावृत्ति के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विदेशी भाषा और साहित्य में ही सब कुछ है वह नगण्य है, वरन् स्थिति यह है कि उन लोगों ने उन मान्यताओं के साथ अपने को आत्मसात् किया है, उनको लिया है तब लिखा है जबकि हमारे यहाँ केवल अनुवाद की प्रवृत्ति है । दुःख है कि अनुवाद भी विकृत तथा दोष पूर्ण है ।)

डॉ० रघुवंश ने नयी मान्यताएँ सृजन की हैं यद्यपि उनमें अतिवैयक्तिकता, असामाजिकता आदि का विरोध है किन्तु उनमें यह ऊपरी ढाँचा मात्र है अन्त में वे सामाजिक असमानता की ओर न जाकर व्यक्तिवाद की ओर ही झुक जाते हैं । शैली को महत्व देकर रह जाते हैं ।

प्रयोगवादी काव्यशास्त्र आदर्शवाद की अपेक्षा मार्क्सवाद के अधिक निकट है, उनमें से यदि अतिवैयक्तिकता, मनोवैज्ञानिक निरपेक्षता तथा ह्रासशील प्रवृत्तियों को अलग कर दिया जाय तो अधिकांश प्रगतिवादी समीक्षक उसका स्वागत करने को तैयार होंगे । इस आन्दोलन को आंशिक स्वीकृति प्रगतिवादी आलोचकों ने दी भी है । आदर्शवादी आलोचक इसे न अब तक स्वीकार करने की दिशा में अग्रसर हुए हैं और न भविष्य में ही ऐसी आशा है । इसी का परिणाम है कि डॉ० जगदीश गुप्त अपने सम्पादकीय वक्तव्यों में तथा जहाँ अवसर मिला है वहाँ इन आदर्शवादियों को भला बुरा कहने से पीछे नहीं हटे हैं । जब कोई वादी गालियों पर पर उतर आये तो हमें समझना है कि उसके पास कहने को कुछ नहीं है । यदि डा० जगदीश गुप्त जैसे हिमायती ही नयी कविता के पास बच रहे तो उसका विकास न होकर नाश ही निश्चित है । हमें यह आशा है कि नयी कविता की वे मशालें जिनमें आगामी पथों को प्रकाशित करने की क्षमता है—आगे आएँगी, जिनसे छाया कुहासा छँटेगा—शाश्वत एवं सौन्दर्य बोध के सामायिक प्रश्नों पर हठधर्मी छोड़कर गम्भीरता से विचार होगा ।

—आगरा कालेज, आगरा ।

नाट्यशास्त्र के काव्य सिद्धान्त

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

अब तक भारत की प्राचीन काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार नहीं हुआ है। समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से काव्यशास्त्र समग्र सामजिक विकास का एक अङ्ग है अतः काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर निरपेक्ष दृष्टि से विचार करना अवैज्ञानिक है।

भरत के नाट्यशास्त्र का समय अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है, किन्तु सभी मतों पर विचार करने से भरत के नाट्यशास्त्र को ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी की रचना माना जा सकता है, क्योंकि भास के नाटकों के पूर्व ही नाट्यशास्त्र की रचना हो चुकी थी यह अब प्रमाणित हो चुका है। विदेशी विद्वानों में अधिकांशतः नाट्यशास्त्र को गुप्तयुग की रचना मानते हैं, सम्भव है, नाट्यशास्त्र का अन्तिम रूप गुप्तयुग में पूर्णता को प्राप्त हुआ हो किन्तु कालिदास और भास के पूर्व ही नाट्यशास्त्र प्रसिद्ध था, इसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

नाट्यशास्त्र ब्राह्मणवादी परम्परा का ग्रन्थ है। बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मणवाद का पुनरभ्युदय शुङ्गकाल में हुआ था। इस युग से स्मृतियों, पुराणों तथा अन्य शास्त्रों और काव्यों आदि द्वारा ब्राह्मणवादी मनोवृत्ति की इसलिए विजय हुई क्योंकि शासन पर ब्राह्मणवादी क्षत्रियों का शासन था। शुङ्गकाल, गुप्तकाल और वर्धनकाल में ब्राह्मणवादी संस्कृति और साहित्य की अद्भुत उन्नति दिखाई पड़ती है। भरत 'उदार' ब्राह्मण थे, यह स्मरणीय है क्योंकि उन्होंने कला के प्रति मनुस्मृति के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया है। ब्राह्मण-संस्कृति के प्रति पूर्ण निष्ठा और आदर होने पर भी भरत ने जैनियों और बौद्धों के प्रति आदर व्यक्त किया है, वह 'सार्ववर्णिक' हित को सम्मुख रखते हैं, तथापि स्मृतियों द्वारा निर्धारित वर्ण-व्यवस्था की सम्पूर्ण जड़ता को भी उन्होंने यथावत स्वीकार किया है उनके नाट्यविधान में शूद्रों को अङ्गसङ्कोच के साथ चलने और नीचों को नीचे दृष्टि रखकर चलने का स्पष्ट विधान है।[1]

भरत की प्रतिज्ञा थी कि समाज का यथावत् अभिनय किया जाय अतः जहाँ उन्होंने प्रत्येक अञ्चल की संस्कृति को बिना किसी भेदभाव के स्वीकार कर विराट सांस्कृतिक अन्तर्भुक्ति का प्रयत्न किया है, वहीं उन्होंने समाज की मर्यादा के नाम पर ब्राह्मणवाद को भी पूर्णतः स्वीकार किया है अतः वह एक ओर 'राष्ट्रीय संस्कृति', 'राष्ट्रीय कला', 'राष्ट्रीय काव्यशास्त्र' का निर्माण करते हुए दिखाई पड़ते हैं, तो दूसरी ओर वह 'राष्ट्रीय चेतना' में ब्राह्मणवादी मनोवृत्ति का प्रचार भी कम नहीं करते। इस तथ्य पर दृष्टि न रखने से काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या में 'ब्राह्मणदर्शन' को 'राष्ट्रीय दर्शन' मान कर उसे भी अन्य 'सैक्यूलर' काव्यसिद्धातों के साथ स्वीकार कर लिया जाता है जबकि भरत में तथा परवर्ती काव्यशास्त्र में उक्त दोनों तत्त्वों को अलग-अलग किया जा सकता है।

धर्मशास्त्रों और कला को 'कामज' मानने वाली मनुस्मृति की तुलना में भरत का नाट्यशास्त्र एक प्रगतिशील रचना है। धर्मशास्त्र शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं देते थे, भरत ने सर्व वर्णों के सांस्कृतिक मनोरञ्जन के लिए नाट्यशास्त्र की रचना की, यह महत्त्वपूर्ण योगदान है।

कला और काव्य का प्रयोजन—भरत तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था में परिवर्त्तन नहीं चाहते थे, बल्कि अपने उदार ब्राह्मणवाद के द्वारा उसे अधिक पुष्ट करना चाहते थे। उनका उद्देश्य धार्मिकों को धर्म में प्रवृत्त करना, प्रेमियों को आल्हादित करना, उद्धतों को नम्र

[1] जात्या नीचेषु योक्तव्या विलोकनपरा गतिः

बनाना, विनीतों को और भी विनीत बनाना, कायरों को शूर बनाना, उत्साहियों को उत्साहित करना, मूर्खों को सान देना, शासकों का मनोरञ्जन करना, दुखियों को शान्ति देना, अर्थकामियों को और भी अर्थोपार्जन के लिए उत्साहित करना तथा व्याकुलों को धैर्य देना है।

इस प्रयोजन में शिक्षा और आनन्द अथवा उपयोगितावाद और आनन्दवाद दोनों को अविरोधी मान कर, दोनों को स्वीकार किया गया है। भरत के अनुसार कला सोद्देश्य होती है, पक्षधर होती है, परन्तु उसकी पद्धति आनन्दमय होने से वह आनन्द के माध्यम से मनुष्य को बदलती है, उसे महान बनाती है, उसमें समाज के लिए उपयोगी (उस काल में ब्राह्मणवादी समाज और राज्य सत्ता के लिए उपयोगी) "मूल्यों" (Values) की सृष्टि करती है। शुद्ध मनोरंजन भी कला के द्वारा होता है किन्तु यह कला का एकमात्र लक्ष्य नहीं है। उच्चकोटि के मनोरञ्जन में सोद्देश्यता अवश्य रहती है। भरत के इस प्रयोजनवाद से हम आज भी शिक्षा ले सकते हैं। भरत "कला के लिए कला" के सिद्धान्त के विरोधी थे और साथ ही जो कला आनन्द न दे सके, मनुष्य को प्रभावित न कर सके, रस सृष्टि न कर सके, वह कोरा प्रचार है। इस बात पर भी भरत ने बल दिया है। दोनों बातें आज हमारे काम की हैं और "कलावादियों" और "प्रचारवादियों"—दोनों के विरुद्ध संघर्ष करने में भरत हमारी सहायता करते हैं किन्तु यह स्मरणीय है कि भरत के समय की "ब्राह्मण मनोवृत्ति" को हमें छोड़ना होगा जो भरत के सिद्धान्तों में ताने बाने की तरह बुनी हुई है। भरत 'राजा' और "अर्थकामी" दोनों के समर्थक हैं, क्योंकि तत्व उनकी आवश्यकता थी, आज कला द्वारा राज्यवाद और पूंजीवाद का विरोध हो रहा है। भरत वर्णवाद के समर्थक हैं, ईश्वरवाद और ब्राह्मण आचार-विचार के प्रचारक हैं। आज कला इन पर प्रहार कर रही है। अतः नाट्यशास्त्र में ग्रहणीय तत्त्व भी हैं और त्याज्य तत्त्वों का भी अभाव नहीं है।

लोकवादः—सौन्दर्य द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध का नाम है, सम्बन्ध की दृष्टि से और अनुभूति की दृष्टि से सौन्दर्य किसी मानसिक स्थिति विशेष में किसी दृश्य को देखकर प्राप्त किया गया भाव या अनुभव है। भरत 'नाट्य' की व्याख्या में दृश्यगत और 'रस' की व्याख्या में द्रष्टागत सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं। रस सृष्टि भरत के अनुसार 'लोकानुकरण" अथवा "लोकवृत्तानुकरण" पर आधारित है, अर्थात् सौन्दर्य की सत्ता लोक में है, पदार्थों में है, मनुष्यों द्वारा किये गये कर्मों में है, अतः रससृष्टि केवल द्रष्टागत सौन्दर्य का फल नहीं है, द्रष्टा और दृश्य दोनों का फल है। "त्रैलोक्य में जो कुछ है, सब का अनुकरण नाटक में होता है," इस उक्ति का काव्य के लिये संदेश यह है कि त्रैलोक्य में जो कुछ है, उसके वर्णन से ही सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है। अतः महान कला के लिए प्रगति को तथा "सुख दुःख समन्वित लोक स्वभाव" को देखना चाहिये। लोक का यथावत् चित्रण ही यथार्थवाद कहलाता है, भरत में सौन्दर्य के प्रति दृष्टि स्पष्टतः यथार्थवादिनी है, भरत का यह मत आज भी माननीय है, केवल इतना अवश्य विचार करना होगा कि हम समाज का यथावत् चित्रण इसलिये करना चाहते हैं, ताकि उसमें परिवर्तन हो अतः "समाजवादी यथार्थवाद" भरत की मौलिक दृष्टि को अपनाकर भी और इसलिये समाज का यथार्थ चित्रण करके भी उस चित्रण के समय इस परिप्रेक्षण को अवश्य रखेगा कि इस वस्तु स्थिति में परिवर्तन होना चाहिए और वस्तुतः परिवर्तन की यह माँग पाठक या दर्शक में स्वतः उत्पन्न हो जायेगी यदि लेखक जानता है कि अपने विचार को किस प्रकार छिपा कर रखा जाए। प्रश्न होगा कि लोकानुकरण केवल रूपक के लिए बताया गया है, क्या यह अन्य कलाओं के लिए भी आवश्यक है? किन्तु वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि में "आत्म अभिव्यक्ति" अथवा लेखक की "सब्जैक्टिविटी" का सौन्दर्य नहीं है अपितु इनमें "लोकवृत्तानुकरण" से ही उदात्तता और सौन्दर्य की सृष्टि हुई है। यों तो रामायण में राम, लक्ष्मण आदि पात्र बाल्मीकि की ही मानसी सृष्टि है, परन्तु यहाँ ध्यातव्य यह है कि प्राचीन काव्यों में लेखकों का "निजी रोदन" नहीं है, अतः भरत का

यह महान संदेश आज भी ग्रहणीय है कि कला और काव्य में "आब्जैक्टीविटी" को कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

कला और नीति:—भरत ने कला और नीति का प्रश्न बड़े गम्भीर रूप में उठाया है। "मूल्यों" की चर्चा के इस युग में यह उक्त पक्ष आज हमारा पथप्रदर्शन कर सकता है। भरत दैत्यों और दानवों की "नीति" या "मूल्यों" को स्वीकार नहीं करते थे, अतः दुष्ट दैत्यों के कुकर्मों से उनका पराभव दिखाना वह लोकहित के लिये आवश्यक समझते थे। जब इन्द्र ने ध्वज से दैत्यों को मार कर जर्जर कर दिया तो वे भाग कर ब्रह्मा के पास गये और उन्होंने प्रतिक्रियावादियों की तरह आरोप लगाया कि यह भरत का दैत्यों के विरुद्ध "प्रोपेगैण्डा" मात्र है और आपने नाट्यवेद की रचना केवल देवताओं की इच्छा से की है! देव अर्थात् ब्राह्मणवादी दृष्टि वाले लोग नाट्यशास्त्र की रचना अपने मूल्यों के अनुसार करना चाहते थे, दैत्य इसका विरोध करते थे। ब्रह्मा की राय थी कि शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ दिखाना कला का उद्देश्य है, इससे अशुभ कर्मा दैत्यों में सद्बुद्धि जगेगी! अतः भरत "कला" और "नीति" का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, स्पष्टतः भरत की 'नीति' आज पूर्णतः स्वीकार नहीं की जा सकती, जिसमें "ब्राह्मणवादी नीति" भी स्वीकृत है किन्तु "शुभ" और "अशुभ," "हितकर" और "अहितकर" का दृष्टिकोण कला और काव्य के क्षेत्र से कभी बहिष्कृत नहीं हो सकता, दैत्य लोग कुछ भी कहें!

आगे चलकर भरत ने कला और नीति विषयक समस्या को साधारणीकरण द्वारा सुलझाया है। कला में पात्र, काव्यशक्ति के बल से, "मनुष्य मात्र" के रूप में आते हैं, व्यक्ति विशेष के रूप में नहीं, अतः उनके शुभ कर्म प्रेरक होते हैं। इस दृष्टि से यदि रावण रामलीला देखता और यदि वह उक्त चेतावनी को याद रखकर राम को मानव मात्र के रूप में देख पाता तो वह अवश्य मुग्ध हो जाता और उसमें शुभ कर्म की प्रेरणा जगती। इसीलिए भारतीय काव्य "राम के समान आचरण करो, रावण के समान नहीं," इस तथ्य को काव्य के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करता है, भरत इस प्रकार कला के क्षेत्र में सामाजिक हित का ध्यान रखते हैं। वह अपने युग में 'ब्राह्मणवादी नीति' के प्रचार को ही हितकर समझते थे। आज 'शुभ' और 'अशुभ' कर्म की धारणा बदल गई है परन्तु आज भी कला में शुभ और अशुभ प्रभाव की बात याद रखनी चाहिए। भरत का यह सिद्धान्त सर्वथा माननीय है। जो कला को नीति से सम्बद्ध नहीं मानते, वे भरत-विरोधी और इसलिए भारतीयता के विरोधी हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि अभिनवगुप्त ने देव का अर्थ 'शुभ-कर्म कारक' किया है। इस दृष्टि से आज के युग में प्रगतिशील तत्त्व देवपक्ष में और प्रतिक्रियावादी दैत्य-पक्ष में प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं।

कला और रस—भामह परम्परा को यह भ्रम हुआ कि रस नाट्य का विषय है, काव्य का नहीं। यह इसलिए हुआ कि वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त संस्कृत का अन्य काव्य 'दरबारी काव्य' है। भरत मुनि हैं यानी वह लोक पर अधिक ध्यान देते हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि वह राज्यसत्ता के समर्थक नहीं हैं। परवर्ती काव्य-शास्त्री दरबारी रुचि के व्यक्ति थे, विशेषकर अलङ्कार-रीतिवादी अतः वह रस का सम्बन्ध नाट्य से और काव्य का सम्बन्ध 'उक्ति वैचित्र्य' से समझते रहे। कश्मीर की सिद्ध-परम्परा में रस का काव्य से पुनः सम्बन्ध स्थापित किया गया। अतः भरत का काव्य-सिद्धान्त रस पर आधारित होने से संकुचित नहीं है।

अध्यात्मवाद का अभाव—भरत की रस व्याख्या लोकानुभव पर आधारित है, अध्यात्मवाद पर नहीं। यह भरत की प्रगतिशीलता और यथार्थवादी प्रवृत्ति का परिचायक है। रसास्वाद नाना व्यञ्जन, औषधि और द्रव्यों से बने भोजन के आस्वाद की तरह है। नाना भावों के मिश्रण से रस की सृष्टि होती है। कला का मर्म यह है कि एक स्थायी मनोवृत्ति को अन्य नाना भावों से तब तक पुष्ट किया जाय जब तक पाठक या दर्शक तल्लीन न होजाए। रसास्वाद इसी लोक के भावों का

उन भावों का जो सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न होते हैं, आनन्द है, यह आनन्द अलौकिक आनन्द या 'ब्रह्मानन्द सहोदर' नहीं है। यह भरत का यथार्थ स्मरणीय है, परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने दर्शनों द्वारा इस सीधे तथ्य की मनमानी व्याख्याएँ की हैं।

भरत की दूसरी महान उपलब्धि और भी गम्भीर और शिक्षाप्रद है। महानतम सौन्दर्य की सृष्टि स्थायी मनोवृत्ति को अन्य सञ्चारी भावों द्वारा पुष्ट करने से होती है अर्थात् यह सिद्धान्त आज के 'क्षणवादी' नई कविता वालों के विरुद्ध पड़ता है, इसीलिए नई कविता के कुछ आचार्य रसवाद का विरोध करते हैं। क्षण-क्षण में कौंधने वाली वृत्तियों का अलग-अलग एकदम चित्रण भी काव्य की सृष्टि कर सकता है क्योंकि केवल सञ्चारियों का भी वर्णन होता है परन्तु जब तक एक मनोवृत्ति द्वारा 'पुष्ट' नहीं किया जायगा तब तक तल्लीनकारी काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। आज का नव-काव्य इसीलिए अपनी विदग्धता से चकित कर सकताहै, अपनी 'इमेज' से क्षणमात्र के लिए मुग्ध भी कर सकता है, किन्तु उसमें तन्मयकारिणी शक्ति नहीं है। यह स्पष्ट है और नई कवितावादियों को इस अभाव पर गर्व करने का पूरा अधिकार है परन्तु उनके सम्प्रदाय से बाहर सब रस के अभाव की शिकायत करते हैं अतः भरत का 'रसवाद', 'क्षणवाद' से श्रेष्ठ है।

व्यापक दृष्टि—भरत श्रृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स, इन चार रसों को प्रमुख मानते हैं। श्रृङ्गार में जीवन का रमणीय पक्ष, वीर और रौद्र में कर्मशील पक्ष और वीभत्स में कुरूपता, भी स्वीकृत है। श्रृङ्गार द्वारा वासना का उदात्तीकरण, रौद्र और वीर द्वारा अन्याय के विरुद्ध सङ्घर्ष और कुरूपता के वर्णन द्वारा जीवन के यथार्थ रूप के परिचय द्वारा भरत का सौन्दर्य-बोध स्पष्टतः व्यापक था। उक्त चारों रस परस्पर पूरक भी हैं। रमणीय की प्राप्ति सङ्घर्ष द्वारा ही हो सकती है। जिस राष्ट्र में केवल श्रृङ्गार-विलास है वह पतनोन्मुख होगा। जिसमें कोरा सङ्घर्ष है, व्यक्ति को कोमल भावों के भोग का अधिकार नहीं है, वह समाज बर्बर है। उसका भी पतन निश्चित है। और जहाँ सौन्दर्यबोध में 'कुरूपता' पर ध्यान नहीं है, वह समाज जीवन को वैज्ञानिक रूप में नहीं ग्रहण कर सकता। भरत ने हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक को भी कम महत्त्व नहीं दिया है परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि प्रबल हिन्दू राज्य में भरत का ध्यान शिक्षा और मनोरञ्जन पर अधिक था, जनता के सामान्य दुःख पर उनका ध्यान नहीं था। ब्राह्मण मनोवृत्ति में कर्मवाद के कारण सामान्य जन के दुःख को पूर्वजन्म का कर्मफल मान लेने से करुणा का अधिक महत्त्व सम्भव नहीं था। भरत में इस अभाव को स्वीकार करना होगा। इसके सिवा रसों के वर्णन-विधान पर भी भरत की ब्राह्मण-दृष्टि का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उदाहरणतः श्रृङ्गार-वर्णन पर कामशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है जो भरत पर अभिजात्य संस्कारों को प्रमाणित करता है। जनपदीय संस्कृति और कला को अपनाने पर भी भरत ने उच्चवर्गीय श्रृङ्गारिक रुचि को ही महत्त्व दिया है। हास्य रस में उच्चवर्गीय शिष्टाचार की प्रशंसा की गई है, स्वस्थ व्यंग्य के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है। परवर्ती काव्यों और काव्यशास्त्रों में नायिकाभेद का जो महत्त्व बढ़ा उसका श्रेय भरत को भी है, राजाओं के अनुचित प्रेम और परकीयावाद की भी प्रशंसा की गई है। इसके अतिरिक्त वेश्याओं के साथ व्यवहार पर विस्तार से भरत पर समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि न अपनाने का आरोप अवश्य लगता है।

अलङ्कारों की उपेक्षा—भरत अलङ्कारों के महत्त्व को समझते थे परन्तु उपमा, दीपक, रूपक और यमक के ही उल्लेख से भरत ने यह प्रमाणित किया है कि काव्य में केवल अलङ्कारों की खोज बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है। काव्य के लिए वर्ण्यविषय, चरित्रचित्रण और रसविधान अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह कहा जा सकता है कि भरत आदि आचार्य थे, अतः अलङ्कार-मीमांसा परवर्ती युग में ही सम्भव थी, किन्तु भरत ने गुणों के १० और लक्षणों के ३६ भेदों का विवेचन किया है। सम्भव है, गुण-लक्षण विवेचन प्रक्षिप्त हों परन्तु तत्त्व अलङ्कार विवेचन को प्रक्षिप्त रूप में नाट्य-

शास्त्र में क्यों नहीं भर दिया गया ? इसके सिवा भरत ने छन्दों पर भी विस्तार से विचार किया है। अतः यही संभव प्रतीत होता है कि भरत काव्य के मर्म पर विचार करना चाहते थे। दूसरे, भरत का युग 'एकता' का युग था, विघटन का नहीं। प्रबल केन्द्रीय सत्ता की स्थापना के समय भावात्मक पक्ष पर बल देना शायद अधिक आवश्यक था। इसके सिवा भरत जैसा विचारक सौन्दर्य और आनन्द का स्रोत कोरे वाग्वैदग्ध्य को कैसे स्वीकार कर सकता था ?

भरत ने स्पष्ट कहा है कि अलङ्कार, गुण आदि रस के ही आश्रित हैं :—

एवमेते इत्यलङ्कारा गुणा दोषाश्च कीर्त्तिता :
प्रयोगमेषाँ च पुनर्वक्ष्यामि रस सँश्रयम् (१६—११३)

काव्य सिद्धान्त और आलोचना—आजकल आलोचकों की निन्दा एक फैशन है। कहा जा रहा है कि आलोचना केवल व्यक्तिगत ही हो सकती है, सार्व भौम मापदण्डों पर विचार व्यर्थ है। किन्तु भरत इस मत के विरोधी हैं। आज रचनाकार की प्रशंसा करने पर वह उस आलोचक की प्रशंसा करता है और विरोध करने पर उसकी निन्दा करता है। स्वयं आलोचकों में भी यही रोग है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि बाद में आने वाले विचारकों की बुद्धिमत्ता और स्वस्थ निर्माण में विश्वास घट रहा है। अथवा यह कि विरोधकर्ता ईमानदार हो ही नहीं सकता। दोनों बातें गलत हैं। भरत का कथन है कि काव्य की सिद्धि उसके प्रभाव से होती है। प्रभाव यानो सभी प्रकार के पाठकों और दर्शकों पर प्रभाव ! केवल 'समान धर्म' पाठकों पर प्रभाव को प्रमाण नहीं माना गया। इसके सिवा भरत केवल प्रभाव को प्रमाण नहीं मानते, विशेषज्ञ जल्दी प्रभावित नहीं होते और अपने को प्रभावित होने के क्षण में भी तटस्थ रखकर प्रभाव के स्वरूप और मात्रा पर विचार कर सकते हैं। अतः आलोचक या प्राश्निक की आवश्यकता स्वीकार की गई है ! किन्तु आलोचक में सच्चरित्रता, कुलीनता, शान्त स्वभाव, गम्भीर अध्ययन, यश-प्राप्ति का इच्छुक, धार्मिक, तटस्थ और प्रौढ़ अवस्था—इन गुणों को आवश्यक माना गया है। आलोचना की निन्दा करते समय यह कहना अधिक उचित है कि आलोचक में उक्त गुण नहीं हैं किन्तु आलोचना मात्र की निन्दा अनुचित है।

भरत के उक्त काव्य-सिद्धान्तों का स्वरूप तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था से साक्षात रूपेण सम्बद्ध है अतः भरत के काव्य-सिद्धान्तों को उनकी युगसीमाओं की भूसी को फटक कर अपनाना अधिक वैज्ञानिक है। भरत द्वारा प्रतिपादित काव्य का प्रयोजन, अधिकारी, प्रक्रिया, वर्ण्य-विषय, चरित्र-चित्रण आदि का स्वरूप, भारतवर्ष के साम्राज्य युगीन समाज और उसमें स्वीकृत मानवीय सम्बन्धों को समझे बिना स्पष्ट नहीं होसकते। भरत के काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों की विशिष्टता वस्तुतः तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था की विशिष्टता है। वह प्रवल केन्द्रीय साम्राज्य युगीन व्यवस्था, भामह वामन आदि के समय की सामन्तवादी व्यवस्था की तुलना में अधिक प्रगतिशील थी क्योंकि उसके सम्मुख देश के अधिकाधिक भाग को एक केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत प्रतिष्ठित करने का महान सङ्कल्प था। इसीलिए भरत में प्रत्येक जनपद की संस्कृति और कला को स्वीकारने का प्रयत्न है और इसीलिए दरवार के अतिरिक्त उनका ध्यान लोक पर भी है। परवर्ती काव्य-शास्त्र में यह लोकदृष्टि लुप्त प्राय है। जहाँ वह है, वहाँ वह केवल रीति के रूप में ही है। अतः भरत परवर्ती बाल की खालखेंचक आचार्यों की तुलना में अधिक उच्च और समग्र दृष्टि अपना कर चले हैं। उनमें ब्राह्मणवाद भी इसीलिए नरम रूप में मिलता है। भरत ने कला को स्वतन्त्र गौरव से मण्डित किया, सार्ववर्णिक दृष्टि अपनाई। रसों को वाग्वैचित्र्य से ऊँचा स्थान दिया, कला और नीति तथा शिक्षा का सम्बद्ध घनिष्ठ किया काव्य के आनन्द को सर्वथा लौकिक क्रिया, सौन्दर्य का स्रोत लोक में माना तथा कला के क्षेत्र में उपयोगितावाद और आनन्दवाद का विरोध समाप्त किया। क्या प्लेटो और अरस्तू से भरत का महत्त्व कम है ?

—गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल।

हिन्दी नाटक : आदर्श और यथार्थ

डा० रामबाबू शर्मा

साहित्य में आदर्श और यथार्थ शब्दों का प्रयोग उनके रूढ़िगत अर्थों में न करके एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। मानव-जीवन के पक्षों—आन्तरिक और वाह्य में से आन्तरिक पक्ष की व्याख्या करने वाला आदर्शवादी तथा वाह्य (भौतिक) पक्ष की व्याख्या करने वाला यथार्थवादी कहलाता है। आदर्शवादी साहित्यकार यह मानता है कि वास्तविक आनन्द की प्राप्ति के लिये आन्तरिक सुख की प्राप्ति आवश्यक है। मानव मूल्यों को ग्रहण करते समय वह यह ध्यान रखता है कि वही ग्रहण किया जाय जो शुभ है, कल्याणकारी है तथा सर्जनात्मक है। दूसरी ओर यथार्थवादी जीवन के भौतिक मूल्यों को प्रमुखता देता है। कहना न होगा कि यथार्थवादी जीवन दृष्टि, आदर्शवादी जीवन दृष्टि के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया का ही परिणाम है।

आदर्श और यथार्थ के स्वरूप भेद को इसके वर्ण्य विषय के मध्य दिखाई देने वाले अन्तर से अधिक आसानी से समझा जा सकता है। आदर्शवादी का वर्ण्य विषय है—'धरती, जैसी होनी चाहिये' और यथार्थवादी का—'धरती, जो कुछ भी वह है'। आदर्शवादी कलाकार अपनी कल्पना के प्रयोग द्वारा मनोनुकूल भव्य और सुन्दर चित्रण करता है। यथार्थवादी वस्तुजगत को नग्न रूप में प्रस्तुत करने का पक्षपाती है। वह अधिकांशत: यथाविधि चित्रण से ही सन्तुष्ट नहीं होता—कहीं अच्छा कहीं बुरा—इसी रूप में चित्रण नहीं करता वरन् एक छोर पर पहुँचकर जो कुछ भी बुरा है असत्य है घृणित है उसी का चित्रण करने की चेष्टा अधिक करता है। वह इसके विपरीत सभी को कल्पना की वस्तुएँ मानता है। उसकी इस मान्यता का कारण वर्तमान समाज में नित्य घटने वाली प्राय: घटनाएँ हैं जिन्हें वह देखता है। वह देखता है कि सदैव असत्य के मार्ग पर चलने वाली शक्तियाँ ही विजयी होती हैं और सभ्य समाज होने के कारण उनके कार्यों को समाज द्वारा मान्यता मिल जाती है। इस दशा में यही जीवन का यथार्थ है और इसी का चित्रण कलाकार का कर्तव्य है। आदर्शवादी कलाकार भाव और कला की अधिकाधिक ऊँचाइयों पर जाने का प्रयास करता है। अन्तर्मुखी होने के कारण उसकी चेतना कभी-कभी रहस्यवादी भी हो जाती है। वह चिरन्तन मानव मूल्यों को ही महत्व देता है और साहित्यसर्जन के लिये मानव की उच्चतम संभावनाओं के प्रकाशन को आवश्यक मानता है।

यथार्थ और आदर्श—इन दो वादों को विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढङ्ग से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। डा० गुलाबरायजी के अनुसार—नित्यप्रति जो कुछ हमारे सामने घटता है वह यथार्थ है और उसमें पाप-पुण्य, सुख-दु:ख दोनों की धूपछाँह का सम्मिश्रण रहता है। उसका यथा विधि चित्रण ही यथार्थवादी दृष्टिकोण है जबकि आदर्शवादी स्वप्न दृष्टा होता है वह ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय में विश्वास करता है। वह आशावादी होता है और उसी के सहारे सुख और शान्ति की कल्पना करलेता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी यथार्थ और आदर्श को 'साहित्य के चित्रण की शैली के दो स्थूल विभाग मानते हैं उनके अनुसार इन दो शैलियों में से किसी एक का चुनाव लेखक अपने दृष्टिकोण के आधार पर कर लेता है। आगे वे कहते हैं कि 'आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट चित्रण द्वारा इष्ट की व्यञ्जना होती है।" वाजपेयीजी का मत एक रैफरी आलोचक का मत है। डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार—"आदर्शवाद व्यक्ति विशेष को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है। प्रगतिवाद

(यथार्थवाद) हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता है। समाज के दुखों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है और जीवन समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में—जैसा कि वह नित्य के जीवन में देखता है—उपस्थित करता है।" मिश्रजी का यह कथन आदर्श और यथार्थ की उक्त व्याख्या से पूरा मेल खाता है। एक वाक्य में की गई प्रसादजी की यथार्थ और आदर्श की व्याख्या अपने आप में पूर्ण है। उनके अनुसार "जीवन की अभिव्यक्ति यथार्थ और अभावों की पूर्ति आदर्श है।"

कहना न होगा कि साहित्य में आदर्श और यथार्थ दोनों का समावेश उसके प्रारम्भकाल से ही होता आया है। वीरगाथाकाल के साहित्य, तुलसी और कबीर की रचनाओं तथा प्रेमचन्द में हम दोनों के समन्वय के सुन्दर रूप को देखते हैं। शायद यही सर्वोत्तम रूप है अन्यथा ये कवि तथा लेखक हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों की श्रेणी में न रखे जाते। आदर्श और यथार्थ दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं—दोनों का अपना-अपना महत्त्व भी है लेकिन जहाँ उपयोगितावादी दृष्टिकोण को तिलाञ्जलि देकर सिद्धान्त के रूप में इन्हें ग्रहण करके अति की सीमा तक घसीटा जाता है वहाँ इनकी हत्या होने लगती है। छायावादी साहित्य की अति आदर्शवादिता ने ही उसके पतन का मार्ग प्रशस्त किया और आज उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप यथार्थवाद को लेकर सामने आने वाले कलाकार अश्लीलता के उद्घाटन को ही यथार्थवाद का नाम देकर उसके तथा समाज के पैरों पर कुल्हाड़ी चला रहे हैं। आज यथार्थ-वाद के नाम पर जो भी लिखा जा रहा है उसमें से अधिकांश कुरुचिपूर्ण है, कलाकार की कुण्ठाओं का परिणाम है।

संस्कृत नाटक की मूल प्रवृत्ति में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं कि वे दूर से ही स्पष्ट तथा अलग दिखाई देती हैं। संस्कृत नाटकों में नाटककारों का उद्देश्य आदर्शवादी रहा है। प्रारम्भिक दशा में नाटक कारों का उद्देश्य अपनी नाट्य कला द्वारा जनता पर उपयोगी तथा शिक्षात्मक प्रभाव डालना ही था। नाट्यशास्त्र के प्रथम परिच्छेद में वर्णित एक कथा के अनुसार प्रारंभिक नाटकों में प्रत्येक प्रकार के कार्यों का प्रदर्शन होता था और दर्शक उनसे अपनी रुचि के अनुसार लाभ ग्रहण कर सकता था लेकिन नाटकों का मूल स्वर उपयोगी और शिक्षात्मक ही था। वहाँ नाटककार यह ध्यान विशेष रूप से रखते थे कि नाटक दर्शक को शिक्षा प्रदान करे जिससे वह अपने समक्ष उपस्थित किए नायकों का अनुकरण करे और दुष्ट पात्रों को प्राप्त होने वाले फल को देखकर उनके पथ का त्याग करे। अपने समक्ष इसी उद्देश्य को रखकर चलने के कारण संस्कृत के नाटककारों ने सुखान्त नाटकों की ही रचना की। वहाँ उन्होंने कार्य अथवा पात्र के साक्षात चित्रण द्वारा जीवन का दर्पण प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया वरन् प्रसिद्ध और परिचित कथानकों को लेकर दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष कराना ही अपना उद्देश्य रखा। आदर्श के प्रति आग्रह होने के कारण प्रसिद्ध कथानकों को ग्रहण करते समय भी उन नाटककारों ने मूल कथा से उन अंशों को जो नायक के विरोध में पड़ते थे या तो निकाल दिया या परिष्कार करके ग्रहण किया। नायक भी आदर्श (धीरोदात्त) ही ग्रहण किए गए। साथ ही रंगमंच पर कुछ दृश्यों के अभिनय का निषेध भी कर दिया।

आदर्श के प्रति इस गहरे मोह के कारण संस्कृत नाटकों में विषय की भिन्नता का अभाव आधुनिक दृष्टि को अवश्य खटकता है। वर्णन के लिए रामायण तथा महाभारत के पात्रों तथा घटनाओं को ही ग्रहण किया गया। अकेले राम को लेकर ही न जाने कितने नाटकों की सृष्टि हुई। उन नाटककारों के दृष्टिकोण को देखते हुए यह उचित भी कहा जा सकता है। आदर्श नायक के रूप में राम से बढ़कर और कोई चरित्र हो भी तो नहीं सकता? वहाँ एक बात और दिखाई देती है वह यह है कि वहाँ नाटककारों ने पात्रों के चरित्र विकास पर अधिक ध्यान न देकर आदर्शवादी वातावरण के चित्रित करने में ही अधिक तत्परता प्रदर्शित की। उस वातावरण के माध्यम से ही वह अपने दर्शकों पर उचित प्रभाव की सृष्टि करता था। वहाँ पात्र समाज

के आदर्श प्रतिनिधि हैं, वैयक्तिक विशिष्टता का उनमें अभाव है। लेकिन इसका यह अर्थ लगा लेना भूल होगी कि संस्कृत नाटकों में कोरा आदर्श ही आदर्श है। उस आदर्श में भी हमें यथार्थ के दर्शन होते हैं। संस्कृत नाटक मानव जीवन की शाश्वत प्रवृत्तियों को छूने वाला एक सार्वभौम साधन है। वह लोक के स्वभाव का अनुकरण है। भरत के अनुसार—

एतद् रसेषु भावेषु सर्व कर्म क्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

नाट्यशास्त्र। १। ११०॥

लोक के स्वभाव का अनुकरण होने के कारण संस्कृत नाटक यथार्थ से अधिक दूर नहीं जाता क्योंकि लोक का स्वभाव सुख–दुख का समन्वय है। यथार्थ में मानव जीवन की सच्ची व्याख्या संस्कृत नाटकों में हुई है। उनमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय हुआ है। नाटकों का स्वरूप निर्धारण करते हुये भरत ने नाट्य-शास्त्र में इस समन्वय को नाटकों के लिये आवश्यक ठहराया है —

अवस्था या सु लोकस्य सुखदुःखासमुदभवा।
नाना पुरुष संचारा नाटके संभवेदिह ॥

॥ २१। १२१॥

संस्कृत नाटककार आदर्श वातावरण में आदर्श पात्रों के द्वारा सुख-दुःखपूर्ण लोक दशा का चित्रण करते थे। ऐसा करते समय भी वे उसके स्वर को उदात्त बनाने की भावना से प्रेरित रहते थे। समाज का चित्रण करते समय भी वे आधुनिक समस्या नाटकों के नाटककारों के समान तत्कालीन समाज का नग्न चित्र उपस्थित करने के पक्षपाती नहीं थे। शायद उस काल का समाज भी आदर्श था उसमें वर्तमान काल के समाज की सी समस्याएँ नहीं थीं। अतः वहाँ समस्या नाटकों का अभाव ही है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन नाटकों मे मानव जीवन की समस्याओं का चित्रण हो नहीं हैं। वहाँ जीवन की उन्हीं समस्याओं का चित्रण है जो शाश्वत है। धर्म, अर्थ, काम, प्रणय-कर्तव्य, स्वार्थ-परमार्थ आदि का चित्रण तथा समन्वयात्मक समाधान उनमे सभी देशों के नाटकों से अधिक ही हुआ है। धर्म, अर्थ और काम में से धर्म को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है इसीलिये शाश्वत समस्याओं के सुलझाने का प्रयत्न करते समय धर्म के मार्ग को ही सर्वोपरि ठहराया गया है। औचित्य का ध्यान वहाँ सर्वथा रखा गया है, यही भारतीय आदर्श है।

हिन्दी नाटकों का जन्म भारतेन्दु युग में हुआ। भारतेन्दु के समय तक आते-आते साहित्य के सभी क्षेत्रों में नवीन चेतना जाग्रत हो चुकी थी। उस समय तक भारतीय मध्य वर्ग के उदय के साथ-साथ मध्य वर्गीय राष्ट्रीय-चेतना तथा सामन्त विरोधी वैयक्तिक स्वतंत्र भावना का प्रारम्भ हो गया था। अतः भारतेन्दु के नाटकों में मध्यवर्गीय नव चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। भारतेन्दु से पूर्व थोड़े से नाटक हिन्दी में लिखे जा चुके थे और उनमें पौराणिक-ऐतिहासिक कथानकों को ही अपनाया गया था। वे भी पौराणिक ऐतिहासिक कथानकों के मोह को छोड़ तो नहीं पाये लेकिन उनमें विद्रोही प्रवृत्ति इस रूप में अवश्य दिखाई पड़ती है कि उन्होंने प्राचीन नाट्य पद्धति में तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन लाने की चेष्टा की और अपने नाटकों में समसामयिक समस्याओं घटनाओं और यथार्थ चरित्रों को ग्रहण किया।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज सुधार संबंधी आन्दोलनों का जो सिलसिला देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक चला उसका तत्कालीन साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। राष्ट्रीय भावना का उदय उस काल की एक अन्य विशेषता है जिसने भारतेन्दु युग के सभी साहित्यकारों को प्रभावित किया। भारतेन्दु युग के नाटकों में जीवन की कुरूपताओं और उनके निराकरण तथा परिष्कार की भावना ही प्रधान है। साथ ही उनमें भारत के अतीत के गौरव के गान के साथ-साथ तत्कालीन राजनैतिक हीनावस्था का चित्रण भी है। अधिकांश नाटकों में भारत की दुरवस्था पर आँसू बहाते हुए अविद्या, रोग, आलस्य, शक्तिहीनता, पारस्परिक फूट, कलह, मद्यपान, धार्मिक-अन्ध विश्वास, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण,

छुआछूत, दंभ, पाखंड, कर, आर्थिक शोषण, निज भाषा के प्रति उदासीनता, स्वदेशी के प्रचार का अभाव आदि का क्षोभ पूर्ण शब्दों में बर्णन किया गया है। उस काल के सामाजिक नाटकों में मध्यवर्गीय सामाजिक यथार्थ का बड़ा ही मार्मिक तथा स्वाभाविक चित्रण हुआ है। 'भारत दुर्दशा' नाटक रूपक कथात्मक नाटक है जिसमें रोग, आलस्य आदि का मानवीकरण किया गया है जिससे यथार्थ का चित्रण होते हुए भी इसके पात्र यथार्थ नहीं प्रतीत होते। तत्कालीन मध्यवर्ग के सामन्ती संस्कृति के प्रति असन्तोष का चित्रण 'विषस्य विषमौषधम्', 'अन्धेर नगरी', 'प्रेमयोगिनी' आदि में दिखाई देता है। 'प्रेमयोगिनी' नाटक तो भारतेन्दुजी का सबसे अधिक यथार्थवादी नाटक है। इसमें काशी के सभी वर्गों का चित्रण किया गया है।

भारतेन्दु युग में आदर्श और यथार्थ दोनों दृष्टिकोण से नाटक लिखने का प्रयास किया गया। वहाँ पौराणिक धार्मिक, प्रेम प्रधान तथा प्रतीकवादी नाटक संस्कृत नाट्य परम्परा के तथा सामाजिक प्रहसन एवं ऐतिहासिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से युक्त हैं। पौराणिक धार्मिक नाटकों में प्रख्यात कथाओं को ही ग्रहण किया गया। राम-कृष्ण की लीलाएँ, हरिश्चन्द्र, गोपीचन्द, भर्तृहरि, नल दमयन्ती आदि ही प्रमुख रूप से अपने उसी प्राचीन रूप में दिखाई पड़ते हैं। प्रेम प्रधान नाटकों में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की छाया स्पष्ट दिखाई देती है- तप्तासंवरण, मालती-वसन्त, मदन-मञ्जरी, उषा-अनिरुद्ध आदि प्रेम कथाएँ तत्कालीन नाटकों का वर्ण्य विषय बनीं। प्रतीक शैली के नाटकों पर पारसी नाट्य शैली का प्रभाव स्पष्ट है। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का नाटक 'कुन्दकली' इस शैली का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटक यथार्थवादी दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। प्रहसन तो संस्कृत साहित्य में भी यथार्थ का ही अधिक चित्रण करते थे यहाँ भी उनका स्वर वही है, वे बुराइयों पर व्यंग्य करने को लिखे गए हैं। सामाजिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में भारतेन्दु कालीन नाटकों का सही रूप दिखाई देता है। यही नाटक उस काल का सही प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारतेन्दु युग के पश्चात् हिन्दी नाटकों की रचना में कुछ समय के लिए फिर शिथिलता आ गई। उस बीच जो थोड़े से नाटक लिखे भी गए, उनका ढाँचा प्राचीन ही रहा। उनमें मौलिकता और नवीनता का अभाव ही रहा। मोटे रूप से देखने पर वे भारतेन्दुयुगीन सामाजिक नाटकों की अनुकृति ही प्रतीत होते हैं। हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में प्रसादजी के प्रवेश के साथ ही क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। वे नवीन सांस्कृतिक चेतना एवं व्यक्तिवादी भावना को लेकर आगे बढ़े। उन्होंने अपने नाटकों में व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को मनुष्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँचाने का आदर्श उपस्थित किया। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने इतिहास को चुना। इतिहास को अपनी नाट्याभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हुए उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत का चित्र तो उपस्थित किया ही, साथ ही मानव जीवन की गतिविधि के द्वारा शाश्वत मानव-जीवन का स्वरूप भी उपस्थित किया। प्राचीन इतिहास के ताने-बाने में अपने समय की सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय आदि समस्याओं को गूँथकर उनको सुलझाने की चेष्टा भी की। उनके नाटकों में रूढ़ परम्पराओं का त्याग, नवीन जीवनदर्शन का ग्रहण, अतीत के प्रति एक रहस्यात्मक मोह, उच्चादर्शों के प्रति उत्कट अनुराग आदि तत्व स्पष्ट दिखाई देते हैं। कहना न होगा कि प्रसादजी अपने इन्हीं आदर्शों को लेकर नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना तथा सांस्कृतिक नवचेतना के निर्माण कार्य में प्रवृत्त हुए।

प्रसादजी के नाटकों पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कथानक, पात्र, देशकाल आदि सभी दृष्टियों से उनके नाटक आदर्श के ही निकट पहुँचते हैं। इनके नाटकों की कथावस्तु का सम्बन्ध भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग से है। उनमें जिस वातावरण की सृष्टि हुई है वह कथावस्तु के अनुकूल है। सभी प्रमुख पात्र अनुकरणीय आदर्श गुणों से युक्त हैं। इन पात्रों के द्वारा ही भारतीय संस्कृति की व्याख्या प्रसादजी ने कराई है। करुणा, क्षमा, उदारता, विश्वप्रेम, त्याग,

शान्ति, आदि उच्चतम जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा इन नाटकों में इन्ही पात्रों के द्वारा हुई है। ये पात्र और इनके द्वारा प्रतिष्ठित जीवन मूल्य सभी आदर्श की श्रेणी में आते हैं। वास्तव में यही वे पात्र हैं जिनके मुख से प्रसादजी ने अपनी मान्यताओं को पाठकों के समक्ष उपस्थित कराया है। उनके नाटकों में जो निम्न श्रेणी के पात्र हैं उनकी अवतारणा कथावस्तु को गति देने, सत के प्रभाव को गहरा करने, अन्तर्द्वन्द्व की प्रतिष्ठा करने तथा आदर्श की स्थापना के हेतु ही की गई है। असत पर सत की विजय ही प्रसादजी का आदर्श है जो उनके सभी नाटकों में दिखाई देता है। नाटकों में जहाँ भी असत है उसे उन्होंने या तो टक्कर खाकर सत की ओर उन्मुख होता हुआ दिखाया है या उसका अन्त ही करा दिया है। यही कारण है कि उनके नाटकों के सभी दुष्ट पात्र या तो सुधर जाते हैं या वध अथवा आत्म हत्या के द्वारा श्रेष्ठ पात्रों के मार्ग से हट जाते हैं। प्रसाद के सभी नाटकों में इसी आदर्श के दर्शन होते हैं।

प्रसाद के नाटकों में हमें आदर्श के दर्शन कुछ अन्य रूपों में भी होते हैं। उन्होंने प्रायः सर्वत्र ही प्रेम के आदर्श रूप की वकालत की है। प्रेम को विलास तथा काम से भिन्न एक पवित्र अनुभूति के रूप में उन्होंने चित्रित किया है। सर्वत्र सच्चे प्रेम की विलास पर विजय दिखाकर उन्होंने उदात्त मानवीय प्रेम की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। सौन्दर्य के क्षेत्र में भी उनका आदर्श आन्तरिक सौन्दर्य ही है। इसी कारण बाह्य सौन्दर्य पर आन्तरिक सौन्दर्य की विजय हम सर्वत्र देखते हैं। अपने नाटकों में प्रसादजी का उद्देश्य मानव को मानव बनाना ही रहा है। प्राचीन काल से ही भारतीय मनीषी चिरशान्ति की खोज में भटकते रहे हैं—उसी की प्राप्ति का आदर्श यहाँ भी रखा गया है। इस दृष्टि से उनके नाटक भारतीय आदर्शों की व्याख्या करने में पूर्ण सफल हुए हैं। उन्होंने मानव की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का चित्रण करते हुए धार्मिक समन्वय पर आधारित मानवतावादी आदर्शों की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की है।

प्रसादजी के समान ही हरिकृष्ण प्रेमी तथा उदयशङ्कर भट्ट भी ऐतिहासिक पौराणिक कथावस्तुओं को लेकर नाटक क्षेत्र में आए लेकिन वे भी तत्कालीन समस्याओं की ओर से मुँह नहीं मोड़ सके। फलतः उनके नाटकों में हम मुंशी प्रेमचन्द के से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का दर्शन करते हैं। सामाजिकता के प्रति आग्रह के कारण ये भारतीय जीवन के अनेक करुण और मार्मिक चित्र उपस्थित करने में सफल रहे हैं। उनके नाटकों में भावना का प्राधान्य है। वातावरण का चित्रण सजीव एवं आदर्शवादी है। सामाजिक समस्याओं का चित्रण करते समय उन्होंने पाठकों को वर्तमान सङ्घर्षों के भरे जीवन से हटाकर सांस्कृतिक आदर्श की ओर ले जाने की चेष्टा की है और उसके लिए नाटकों के कथानकों में प्राचीन संस्कृति के आदर्श गुणों को समाविष्ट किया है। जहाँ इन्होंने वर्तमान समाज की समस्याओं का मूल कारण उच्चवर्ग को ही ठहराया है, वहाँ ये पूर्णतः यथार्थवादी हैं। लेकिन उन्होंने अपना स्वर आदर्शवादी ही रखा है। लोकहित की ओर इनकी दृष्टि सर्वत्र ही रही है। प्रेमीजी तथा भट्टजी के नाटकों को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की श्रेणी के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

प्रसादयुग के पश्चात् हिन्दी नाटकों का स्वर बदला हुआ दिखाई देता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में राष्ट्रीय, धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों ने सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक रूढ़ियों पर जो आघात किया उसने बुद्धिवादियों को प्रभावित किया। वे समाज की दुर्बलताओं के प्रति अधिक सचेत हुए और उनके प्रति उनकी प्रवृत्ति अधिक विद्रोहात्मक बन गई। इसी समय यूरोप में समस्या नाटकों का जन्म हुआ इब्सन और शॉ के नाटक वहाँ बड़े लोकप्रिय हुए। फलतः हिन्दी के नाटककारों ने भी वहीं से प्रेरणा ग्रहण की। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र को समस्या नाटकों का जन्मदाता माना जा सकता है। उनके अतरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वरप्रसाद, गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि अन्य नाटककार भी उन्हीं के दिखाये मार्ग का अनुकरण कर रहे हैं।

हिन्दी समस्या नाटक तत्कालीन समाज की रूढ़ियों

के प्रति विद्रोहात्मक भावना का ही परिणाम है। इन नाटकों में सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं को नग्न रूप में चित्रित करके उनके प्रति समाज के ध्यान को आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। इनमें समाज के जीवन को कुण्ठित करने वाले पुरातन आदर्शों के आरोप को उतार फेंकने का संदेश है, समयानुकूल जीवन-दर्शन की दिशा निर्दिष्ट करने का प्रयत्न है। इस दृष्टि से ये आदर्शवादी नाटकों के विरोध में नहीं हैं बल्कि पूरक हैं। जिसे आदर्शवादी नाटकों में त्याज्य समझकर छोड़ दिया गया था, उसी त्याज्य को यहाँ आदर्श मान कर ग्रहण किया गया है। आज समस्या नाटकों को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उसे देखकर यह कहना पड़ता है कि आज का बुद्धिवादी पाठक उस कोरे आदर्श से ऊब गया है जो यथार्थ न होकर कल्पना लोक की वस्तु है। वह यह अनुभव करने लगा है कि वर्तमान सामाजिक समस्याओं की ओर से दृष्टि हटाकर भावुकता का आवरण ओढ़ लेने से इन समस्याओं का न तो अंत होगा और न समाधान! अब तो आवश्यकता इस बात की है कि इन विषमताओं के मूल कारणों की खोज करके उन्हें परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके सुलझाया जाय। आज का युग तो समस्याओं का ही युग है। नित्य नई समस्याएँ सामने आरही हैं। अब यह साहित्यकार का ही कार्य है कि वह समाज को उचित दिशा दे उसके सदस्यों को समस्याओं को सुलझाने को प्रेरित करे।

समस्या नाटकों की समसामयिक जीवन के प्रति उपयोगिता तो स्पष्ट है लेकिन इसकी भी सीमाएँ हैं। इब्सन और शॉ के आदर्शों से प्रेरित होने के कारण हिन्दी समस्यानाटक साधारण दैनिक विषय, साधारण पात्र तथा साधारण भाषा को लेकर मैदान में आए। उन नाटककारों ने अपने को 'साधारण' तक ही सीमित करके अपने नाटकों को भी साधारण बना डाला। जो कार्य, समस्याएँ तथा घटनाएँ नित्य की वस्तु हैं, उन्हें हम बार-बार दुहराना पसन्द नहीं करते। उनकी आवृत्ति मन पर भार ही डालती है उसे हल्का नहीं करती। समस्याएँ तो पाठक के समक्ष स्पष्ट हो जाती हैं लेकिन प्रभ-विष्णुता कम हो जाती है। उनमें सामान्य बातों का कथन ही प्रधान रूप से होने के कारण साहित्यिक आस्वाद भी कम होता है। साथ ही इन नाटकों में समस्याओं का चित्रण जिस ढङ्ग से किया गया है वह अत्यन्त ही शुष्क है। उनमें रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की तीव्र भावना, कुण्ठाओं के प्रति जागरूकता तथा अतिनग्न चित्रण के प्रति झुकाव होने से, वे अत्यन्त ही बोझिल हो गए हैं। समस्या नाटकों की इन्हीं सीमाओं को लक्ष्य करके शायद मिश्रजी ने अपना स्वर बदला है। उन्होंने अपने 'गरुड़ध्वज' नाटक के द्वारा हिन्दी में पुनः उसी परम्परा का प्रारम्भ किया है जो प्रसादजी के नाटकों में दिखाई देती है और प्रारम्भ में मिश्रजी जिसके बड़े विरोधी थे। सेठ गोविन्ददास, अश्क आदि तो अब भी समस्या नाटकों की ही रचना में संलग्न हैं। सेठजी के नाटकों में राजनैतिक यथार्थ को ग्रहण किया गया है—जो स्थूल है। उनमें समस्याओं के मूल में जाने की प्रवृत्ति कम ही दिखाई देती है। हाँ, अश्कजी के नाटकों में समस्याओं के भीतर तक पैठने के प्रति सजगता सर्वत्र दिखाई देती है।

हिन्दी का एकाङ्की साहित्य भी नाटक साहित्य के साथ ही साथ विकसित होता रहा है। हिन्दी एकाङ्की का रूप सभी युगों में प्रायः तत्कालीन नाटकों के अनुरूप ही रहा है। वर्तमान युग में आकर जब हिन्दी-नाटकों में यथार्थ का प्रवेश हुआ, एकाङ्की भी उससे बच नहीं पाया। यथार्थ का प्रवेश हिन्दी एकाङ्की के प्रति बहुत ही हितकर सिद्ध हुआ। वर्तमान युग में मुँह बाये खड़ी समस्याओं को लेकर सैकड़ों ही एकाङ्की लिखे गए। आज कहानी के समान एकाङ्की का भी बड़ा विकास हो रहा है।

—श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति।

———

नाटक और उपन्यास का अन्तर

प्रो० शिवबालक शुक्ल

'अवस्थानुकृतिनाट्यम्' के अनुसार नाटक में किसी विशेष व्यक्ति के जीवन के कार्य व्यापारों का अनुकरण होता है। दूसरे शब्दों में नाटक में मानव जीवन का अभिनय होता है। नाटक में अतीत प्रत्यक्ष रूपमें दर्शित, उपन्यास में घटित घटनाएँ घटित रूपमें वर्णित होती हैं। उपन्यास में मानव जीवन की विविध घटनाएँ उपन्यस्त हो जातीं हैं। मुन्शी प्रेमचन्दजी उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र' कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब एक मानव जीवन का अभिनय है और दूसरा चित्र तो दोनों में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। फिर यदि नाटक और उपन्यास की शैली पर विचार न करें तो उनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। नाटक को अनिवार्यतः अभिनेय होना चाहिए और यदि उसमें अभिनेयता का अभाव हो तो नाटक, नाटक न रहकर पाठ्यग्रन्थ हो जाता है और उपन्यास से भिन्न नहीं रह जाता। ऐसे नाटकों को श्री उदयशङ्कर भट्ट ने 'नाटकोपन्यास' की सुन्दर संज्ञा दी है। प्रसादजी का दृष्टिकोण दूसरा है। वे नाटकों के अभिनय योग्य रङ्गमञ्च चाहते हैं। उनका कथन है कि—"रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रङ्गमञ्च के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिये रङ्गमच हो।" दोनों में उद्देश्य के विचार-विन्दु से कुछ तो क्या बहुत कुछ साम्य रहता है किन्तु जिज्ञासु विद्यार्थी की सूक्ष्म दृष्टि से उनका महान अन्तर भी परिलक्षित होगा।

उपन्यास में एक ही व्यक्ति (उसे पढ़कर) लाभ उठा सकता है, नाटक एक ही समय में अनेक दर्शकों को आनन्द प्रदान करने की शक्ति रखता है, परन्तु नाटक के हेतु अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। प्रबन्ध कर्त्ताओं की, सुयोग्य पात्रों की, नाटक योग्य रङ्गमञ्च की आवश्यकता शीघ्र पूरी हो सकती है—इसमें सन्देह है। उपन्यास के लिए प्लेटफार्म, रेल का डिब्बा, अध्ययन-कक्ष तो क्या तल्प भी पर्याप्त है और जहाँ तक यात्रा का सम्बन्ध है वहाँ यदि मुन्शी प्रेमचन्द कहानी को मार्ग की छड़ी कह सकते हैं तो मैं उपन्यास को 'मोटा डण्डा' कहूँगा जो एक कुत्ते साहब तो क्या अनेक कुत्ते साहबों की देर तक और दूर तक खबर ले सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि कथानक की दृष्टि से दोनों में मानव जीवन का चित्र चित्रित होता है किन्तु एक में साधन सीमित होते हैं और दूसरे में असीमित। नाटककार को समय तथा पात्रों आदि की सीमा में आबद्ध रहना पड़ता है। कभी-कभी तो उसे अपनी भावनाओं को भी स्पष्टतः अभिव्यक्त करने में अतीव कठिनाई होती है। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक के पात्र अधिकांशतः नाटककार की भावनाओं को मुखर करते हैं फिर भी काल और परिस्थिति के अनुसार बेचारे नाटककार को मौन समाधि ही लेनी पड़ती है। बात यह है कि नाटककार अन्तर्लीन रहता है। उसकी उपस्थिति अन्तरङ्गीय है बहिरङ्गीय नहीं। बहुत कुछ कहने की आवेगमयी उत्कण्ठा से आन्दोलित नाटककार अपने पात्रों से सीमित बात ही कहला सकता है। इससे स्पष्ट है कि नाटककार काल और परिस्थिति के हाथों की कठपुतली है। प्रकृति के रङ्गीन चित्र, भावनाओं का द्वन्द्व कभी-कभी कोष्ठक युक्त शब्दों में देने पड़ते हैं। वह स्वतन्त्र नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक युग के प्रसिद्ध नाटककार जार्ज बर्नार्ड शॉ अपने पात्रों को अपने हाथों की कठपुतली रखते हैं। अंशतः प्रसाद जी के नाटकों में भी हम यही बात पाते हैं। उपन्यासकार जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र चित्रित करता है। प्रसिद्ध उपन्यासकार आर्नल्ड बैनेट ने ठीक ही लिखा है—

"The novelist is one, who having

seen life and being so excited by it that he absolutely must transmit his ideas to others chooses the narrative fiction as the liveliest vehicle for relief of his feelings."

उपन्यासकार जीवन के मार्मिक दृश्यों को पाठकों के समक्ष रखता है। वह उदात्त कल्पनाओं की रंग-स्थली में बिहार करता है। अद्भुत अनुभूतियों के लोक में पर्यटन करता है तथा करता है मानव अन्तर की विभिन्न भावभूमियों में परिभ्रमण। उसके पात्र तो बिजली का बल्ब हैं जो स्विच दबते ही आलोकित अथवा तमाच्छन्न हो जाते हैं। कहने का मन्तव्य यह है कि बिजली की बैटरी का तार औपन्यासिक के हाथ में ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि उपन्यासकार अपने अपरिसीम स्थान में स्वच्छन्द रहता है।

यहाँ हमें एक बात और स्पष्ट करनी है कि उक्त भेद प्रसादजी जैसे दार्शनिक लेखक के नाटकों और उपन्यासों में रह ही नहीं गया है। कारण कि नाटककार के हेतु सबसे बड़ी बात यह है कि वह स्वयं पात्र होता है। कभी वह विशेष पात्र होता है तो कभी गौण किन्तु प्रत्येक पात्र की जिह्वा पर वह रहता अवश्य है। फिर भी जितना वह कहना चाहता है उतना कहने का अधिकार उसे नहीं होता। उपन्यासकार पात्र होता भी है और नहीं भी। प्रसिद्ध बङ्गाली लेखक शरद् बाबू और देवदास में कितना साम्य है—सहृदय पाठकों के विचारार्थ मैं इसे छोड़ता हूँ। जहाँ नाटककार अपने एक पात्र की चारित्रिक विशेषता अथवा किसी घटना का उल्लेख दूसरे पात्र से ही करा सकता है वहाँ उपन्यासकार को स्वयं बोलने का अधिकार रहता है और वह स्वयं पात्रों की समीक्षा प्रस्तुत करता चलता है। इसका कारण है उपन्यासकार का अपने ही माध्यम द्वारा प्रत्येक वस्तु को परिचित कराना।

नाटक में जीवन के शान्त प्रवाह की गति की यथार्थ अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है जिसमें मनुष्य अपने हाथ पैर नहीं डुला सकता है किन्तु उसका मानस भाव वीचियों में उद्वेलित रहता है। मानसिक विपर्यय की वह हाहाकारमयी मूक वेदना जो शब्दों के बन्धन में पड़ नहीं सकती वाणी के क्रोड़ में आते ही मचल उठती है, नाटक की संकुचित सीमा में यह कैसे आ सकेगी? नाटक की मुखर सत्ता से वह कहाँ तक संलग्न रहेगी? फिर भी नाटक में मनुष्य के जीवन की साधारण झाँकी के लिये कम असाधारण जीवन की झलक के हेतु निश्चय ही अधिक अवसर रहता है। नाटक मानवों का दृश्यमान लेखन है जिसका उसकी कर्मधारा के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। चिंता धारा के क्षेत्र में उसकी स्थिति अभी तक नगण्य है। आज का जगत चाहे तो कह सकता है कि ऐसा मनुष्य किसी काम का नहीं जो मनोभाव ही नहीं प्रकट करता। इस प्रकार जीवन का सम्पूर्ण मर्म प्रकट करने में कुछ कम समर्थ होता है।

नाटक को भरत मुनि ने पञ्चम वेद माना है। और वेद 'विद्' धातु से निःसृत शब्द है जिससे वेद का अर्थ ज्ञान होता है। इस प्रकार नाटक को हम आदर्श के अतीव सन्निकट पहुँचते पाते हैं और जब उपन्यास 'मानव वृत्तियों का क्रमबद्ध इतिहास' है तो उपन्यास यथार्थोन्मुख दीखता है। यद्यपि मानव-जीवन का साक्षात् प्रत्यक्षीकरण दोनों में ही होता है।

उपन्यास का उद्देश्य लोक-रञ्जन और रुचि परिष्कार तभी है जब उपन्यासकार मुन्शी प्रेमचन्द जैसे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' वाला सिद्धान्त उपन्यासों में प्रतिष्ठित करें। अन्यथा ये दोनों एक उपन्यास में किस मात्रा में पाये जाते हैं यह कहना कठिन होगा। सम्भवतः 'कला कला के लिये' कहने वाला स्कूल लोकरञ्जन की मात्रा अधिक मानेगा। रुचि-परिष्कार में उपयोगिता की झलक मिलती है।

नाटक द्वारा रुचि परिष्कार अधिकाधिक रूप में होता है कारण कि इसमें हम जीवन का अभिनय देखते हैं। किसी तथ्य को पढ़ लेने की अपेक्षा उसके देखने से मन पर पड़ने वाले प्रभाव का समय बढ़ जाता है। यों भी नाटकीय रस-निष्पत्ति उपन्यास के रस प्रवाह से अधिक प्रभावशालिनी होती है कारण कि उपन्यास का झुकाव कथा-जिज्ञासा की ओर रहता है। नाटक

का दर्शक तथा उपन्यास का पाठक दोनों ही पात्रों से भाव तादाम्य स्थापित करते हैं किन्तु उनके इस तादात्म्य में मात्रा का भेद अवश्य विद्यमान रहता है। नाटक के दर्शक की आत्म चेतना आत्मविस्मृति में विलीन हो जाती है किन्तु तब तक नाटककार द्वारा सीमित स्थानों में किये हुये दार्शनिक विवेचनों से अवगत होने के हेतु सहृदय दर्शक उसके मानसिक धरातल तक उठ जाता है और जिस उपन्यास में वाण द्वारा निर्दिष्ट उपकरणों का समावेश होगा वहाँ पाठकों को कठिनाई उठानी पड़ेगी। 'चित्रलेखा' और 'कंकाल' के पाठक को जासूसी उपन्यास अथवा 'माया' 'छाया' और मनोहर कहानियों का रस लेने के हेतु मष्तिष्क को भी अधिक कष्ट देना होगा।

नाटक तीन घन्टे से अधिक समय में न समाप्त होना चाहिये। लम्बे संवाद और बहुत ही गम्भीर विवेचन दृश्यकाव्य की श्रीवृद्धि नहीं करते। यह बात दूसरी है कि वे इन नियमों से अलग होकर केवल पाठ्यग्रन्थ मात्र रह जाते हैं। जैसा मैंने प्रारम्भ में कहा है मनोरञ्जन के अधिकाधिक साधन नाटक में विद्यमान होने चाहिये। पात्रों की भाषा कथोपकथन प्रभृति बातें इतनी आकर्षक हों कि दर्शकों का यथेष्ट मनोरञ्जन हो सके। फिर भी अधिक गम्भीर नाटकों की रचना संस्कृत में हुई है। कहना न होगा कि उस समय का समाज ही सुसंस्कृत था। भिन्न रुचि वाले समाज में भी कालिदास के शब्दों में नाटक सर्वप्रिय रहा है। सुनिये 'नाट्यम् भिन्न रुचेः बहुधाप्येकम् समाराधनम्।' उक्त सिद्धान्त उपन्यास पर भी लागू है। पर एक बात माननी पड़ेगी कि उपन्यास में फिर भी ऐसे दार्शनिक विचारों का समावेश हो सकता है। रेल यात्री पाठक के अतिरिक्त साहित्य का विद्यार्थी भी आनन्द उपलब्ध कर सकता है।

नाटक में उपन्यास से एक विशिष्टता होती है—कार्य व्यापार, अर्थ प्रकृतियों तथा सन्धियों की समन्विति और यह समन्विति ज्योमितिक त्रिभुजों की अनुरूपता का सा आनन्द देती है। किस कार्य व्यापार में कौनसी अर्थप्रकृति का प्रयोग होगा यह बात जैसी नाटक में परिव्यक्त की जाती है वैसी (सूक्ष्मता) उपन्यास में खोजने पर ही मिलेगी।

उपन्यास और नाटक में एक बहुत बड़ा अन्तर है। नाटक में सदैव से ही रस की महत्ता मानी गई है जबकि उपन्यास में रस का महत्त्व बिल्कुल उठता ही नहीं। नाटक में बिना रस संचार के कोई काम ही नहीं चल सकता। इस प्रकार से दृश्य काव्य का महत्त्व बढ़ जाता है। जिस प्रकार कविता में रस की महत्ता मान्य है उसी प्रकार नाटक में भी विभिन्न वातावरणों में रसों का पूर्ण परिपाक रसाभास और रस विरोध के जैसे सुन्दर और उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं वैसे उपन्यास में कहाँ?

अब नायक पर आइए। नाटक और प्रबन्ध काव्य विचार बिन्दु से प्रायः एक कोटि के ही काव्य हैं। अरिस्टाटिल ने इनकी अभेदता पर विचार किया है। नाटक में धीरोदात्त, धीरललित, धीर प्रशान्त, देवता अथवा अभिजात कुल सम्भव राजकुमार (पुरुष) ही नायक माना जाता है।

नेताविनीतो मधुर त्यागी दक्ष प्रियवदः
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरोयुवा
बुद्धयुत्साह स्मृति प्रज्ञा कलामान समन्वतः
शूरोदृढ़श्च तेजस्वी शास्त्र चक्षुश्चधार्मिकः
—'दशरूपकम्'

और उसका प्रतिद्वन्द्वी उसके विपरीत आचरण वाला हुआ करता है किन्तु उपन्यास के विषय में ऐसा कोई बाध्यनियम नहीं है। वहाँ समाज का सामान्य प्राणी भी नायक हो सकता है। यद्यपि सामाजिक नाटकों के लेखक भी अपने नायकों के विषय में इतने विचारशील नहीं होते। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक इस कथन की पुष्टि करते हैं। हार्डी के उपन्यास एक वर्ग तक सीमित रह गये। मुंशी प्रेमचन्द जी अपने उपन्यासों को माध्यम बनाकर प्रायः भारतीय ग्रामों का इतिहास लिखते रहे। नाटकों में ऐतिहासिकता का अधिकांश है। भले ही आज के एकांकी नाटकों तथा कुछ अन्य नाटकों में इसका अपवाद

मिले। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि उपन्यास मानव भले या बुरे के चरित्र का चित्र है तो अनुकृति है और अनुकरण सदैव आदर्श का ही होना चाहिये। बुरे, भले ही अनुसङ्गत उसमें आ जांय। महामति माघ के शब्दों में—'कथापि रतलुपापानामलमश्रेयसे'

—शिशुपाल वध

नाटक में कथोपकथन का स्वरूप अधिकाधिक निखरता है। उपन्यास में संवाद-कला का विकास नहीं हो पाता। थोड़ा सा वार्तालाप प्रारम्भ होने के उपरांत दो पात्रों के बीच में लेखक कुछ बोलना अवश्य चाहता है किन्तु व्याख्याता को नाटक में सीमित रहना पड़ता है।

रही चरित्र-चित्रण की बात। उसमें दोनों समान हैं किन्तु उपन्यासकार को अपनी ओर से व्यक्तिगत रूप से कुछ कहने का अधिकार रहता है। यद्यपि उपन्यास में पात्र और परिस्थितियाँ नाटकों जैसी ही होती हैं फिर भी उपन्यासों में घटना पर अधिक बल दिया जाता है। और चूँकि उपन्यास एक प्रकार की कथा है अतः पाठक की जिज्ञासा को तीव्र करने के हेतु कौतूहलमयी घटनाओं को गुम्फित किया जाता है। कथा के मूल में 'क्या हुआ' का भाव अन्तर्लीन रहता है और पाठक जब अपनी भावना के प्रतिकूल कोई घटना घटित होती देखता है तो वह विस्मयपूर्ण आनन्द में निमग्न हो जाता है। वाणभट्ट की कादम्बरी में चन्द्रापीड और महाश्वेता के सम्मिलन समय पाठक सोचता है कि सम्भवतः दोनों एक दूसरे के प्रेम-पाश में बँध जायेंगे किन्तु कथा के बढ़ते ही चन्द्रापीड और कादम्बरी का परिचय लेखक करा देता है। यहाँ घटना पाठक की (कम से कम मेरे पाठक की) भावना के प्रतिकूल हो जाती है। नाटक में भी घटनाओं का सम्यक् समावेश होता है पर चरित्राङ्कन पर नाटककार का विशेष ध्यान रहता है।

भाषा के विचार-विन्दु से नाटककार को अधिक सजग और सावधान रहना पड़ता है। कारण कि सीमित समय में पात्रों के माध्यम से अपने भाव एवं अर्थ को व्यक्त करना पड़ता है। उपन्यासकार का क्षेत्र विस्तृत है। उसे बीहड़ वन और विजन वन तथा स्वर्ग की अमराइयों में समान रीति से प्रवेश करने का अधिकार पात्र है और तदनुकुल उसे भाषा को बोधमय बनाना पड़ता है। फिर भी मानना पड़ेगा कि उपन्यासकार की भाषा नाटककार की भाषा से सरल होती है। कारण कि नाटक देखने वाले कोरे सिनेमा प्रेमी या नक्कारे वाली नौटङ्की के दर्शक नहीं, पर्याप्त परिष्कृत रुचि रखते हैं अन्यथा संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना, कथोद्घात ही समझना कठिन हो जायगा। वेणीसंहार नाटक का कथोद्घात सहृदयों के हेतु विचारणीय है और उपन्यास प्रायः सभी पढ़ना चाहते हैं। आज नाटकों और प्रबन्ध काव्यों के स्थान पर 'एपिक इन प्रोज' (उपन्यास) का दौरदौरा है।

उक्त विवेचन से साहित्य के दो प्रमुख अङ्गों नाटक और उपन्यास का भेद स्पष्ट होता है। फिर भी हमें कहना पड़ता है कि दोनों का उद्देश्य मनोरञ्जन और मानव रुचि परिष्कार है और दोनों में साम्य के साथ बहुत बड़ा अन्तर है।

—के० जी० के० कालिज, मुरादाबाद।

हिन्दी एकाङ्की कला

प्रो० शङ्करराव कप्पीकेरी

आज का व्यस्त मानव-समाज समय को बचाना भी चाहता है, साथ-ही-साथ मनोविनोद के साधन से सम्पन्न भी होना चाहता है। वह अल्प से अल्प काल में अधिक से अधिक विचार ग्रहण करना और मनोरञ्जन करना चाहता है। एकाङ्की वास्तव में कार्य-व्यापार द्वारा रङ्गमञ्च पर अभिनीत जीवन के एक पहलू पर प्रकाश है। एकाङ्की स्वतन्त्र टकनीक वाला योग्य साहित्य का एक उपभेद है, जिसमें स्थल, काल तथा व्यापार के तीनों सङ्कलन का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए।

एकाङ्की के अधिक लोक-प्रिय होने का कारण यह है कि जनता अपने मनोरञ्जन के लिये कार्य-व्यस्त होने के कारण समयाभाव में ऐसी कलात्मक रचना चाहती है जो थोड़े समय में उसके मस्तिष्क को पर्याप्त भोजन दे सके। चल-चित्रों और रेडियो आदि के वैज्ञानिक आविष्कारों ने इस रुचि को और अधिक उत्तेजना देकर उसकी पूर्ति की सामग्री उपस्थित करदी है।

हिन्दी एकाङ्कियों के रूप को देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि हिन्दी में एकाङ्की का जन्म संस्कृत की परम्पराओं के अनुकरण द्वारा भारतेन्दु से हुआ और अपने विकास की वर्तमान अवस्था में उस पर अंग्रेजी का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा। हिन्दी एकाङ्की के इतिहास के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्रजी का मत है कि "हिन्दी एकाङ्की का इतिहास गत दस वर्षों में सिमटा हुआ है....परन्तु सचमुच हिन्दी एकाङ्की का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूंट' से ही हुआ है।" एकाङ्की नाट्य शैली यूरोप से गोद ली हुई नहीं, प्रत्युत अपने ही वंश में उत्पन्न हुई है। एकाङ्की साहित्य का एक रूप और एक विशिष्ट ढांचा है। भारतीय हिन्दी एकाङ्कीकारों की निर्माण कला अपनी है। एकाङ्की लेखन वास्तव में एक श्रेष्ठ कला है। एकाङ्कीकार को हर कदम पर कठिनाई का अनुभव होता है और वह इन कठिनाइयों पर श्रेष्ठ कला के प्रयोग से ही विजय पा सकता है।

एकाङ्की का अर्थ—'एकाङ्की' शब्द का अर्थ है—एक अङ्क वाला। दृश्यकाव्य का वह विशेष भेद जिसमें केवल एक अङ्क होता है, एकाङ्की कहलाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के 'वन एक्ट प्ले' के अर्थ में हुआ है।

हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने एकाङ्की की परिभाषा अपने-अपने ढङ्ग से की है। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "एकाङ्की में हमें जीवन का एक क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलता है। उसके लिए एकता एवं एकाग्रता अनिवार्य है। किसी प्रकार का वस्तु-भेद उसे सह्य नहीं। एकाग्रता में स्वाभाविकता की झकोर अपने आप आ जाती है और इस झकोर से स्पन्दन पैदा हो जाता है। विदेश के सङ्कलनत्रय का निर्वाह भी इस एकाग्रता में काफी सहायक होता है पर वह सर्वथा आवश्यक नहीं। प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अनिवार्य है ही, लेकिन स्थिर और काल की एकता का निर्वाह किये बिना ही सफल एकांकी की रचना हो सकती है।" प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी का मत है कि एकाङ्की में एक सुनिश्चित-सुकल्पित लक्ष्य, एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या, वेग-सम्पन्न प्रवाह और निदर्शन में चातुरी आवश्यक है। वे एकाङ्कियों में लम्बे-लम्बे कथोपकथनों दृश्यों को अतिशयता, विषयान्तरता, वर्णन-बाहुल्य, चरित्र-विकास के लम्बे प्रयोगों और उलझी कल्पनाओं को पसन्द नहीं करते। सेठ गोविन्ददासजी का मत भी अवस्थीजी से मिलता-जुलता है। वे सर्वप्रथम किसी एक मूल विचार या समस्या को आवश्यक मानते हैं।

इसके अनन्तर विचार के विकास के लिये सङ्घर्ष की आवश्यकता बताई गई है तथा विचार और सङ्घर्ष दोनों के लिये कथानक, पात्र, कथोपकथन आदि की आयोजना होती है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के कथनानुसार एकाङ्की जीवन के एक अंश का पृथक, विच्छिन्न चित्र उपस्थित करता है। जीवन की एक झाँकी मात्र देता है। विभिन्नता के बदले एकीकरण, विशृङ्खलता के बदले एकाग्रता, पूर्णता के बदले अपूर्णता, फैलाव के बदले सिमटाव, विस्तार के बदले संक्षिप्तता इसके गुण हैं। एकाङ्की लेखक किसी मूलभूत विचार को उसकी समस्त सम्भावनाओं के साथ व्यक्त नहीं करता, उसका संकेत मात्र करता है। जीवन की सबसे अधिक स्वाभाविकता एकाङ्की में लाई जाती है। एकाङ्की अपने में पूर्ण होता है। वह अपने से बाहर किसी की अपेक्षा नहीं रखता। उसमें जीवन की एक छोटी-सी घटना का रूप दर्शन होता है जो पात्र या पात्रों द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ पराकाष्ठा को पहुँचता है। एकांकी एक गतिमान ध्येय लेकर चलता है। यह वाण से चिड़िया की आँख वेधने वाले अर्जुन की तरह एकाग्रता, तन्मयता का ध्येय लेकर चलता है। एकांकी में क्षिप्रगति के साथ संवाद की तीक्ष्णता तथा यथार्थ का होना आवश्यक है। एकांकी में इधर उधर की बातों के लिए कतई गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि काल का व्यवधान सदा ही उसे ध्येय की ओर चलने को बाधित करता रहता है। पात्र के चेतना तन्तु व्यापक होकर निर्दिष्ट दिशा विशेष की ओर भागते हैं। मीठे शब्दों में मतलब की बात ही एकांकी का मूल बीज है। जो एकांकी जितना ही गतिमान होगा उतना ही रोचक एवं आकर्षक होगा। फिर भी केवल गति ही एकाङ्की में नहीं होती। गति को बनाये रखने के लिये संवाद, घटना, वस्तु, पात्रों का एकीकरण होना आवश्यक है। सभी घटनाएँ, सभी वस्तुएँ एकाङ्की का विषय नहीं बन सकतीं। उनमें काल भी रहता है, स्थान की एकता का होना भी आवश्यक है। एकाङ्की की सफलता एक ही दृश्य में है।

डा० रामकुमार वर्मा ने एकाङ्की के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनके विवेचन को निम्नांकित निष्कर्षों में प्रस्तुत कर सकते हैं—

१—एकाङ्की में मुख्यतः किसी एक ही घटना या जीवन की कोई एक प्रमुख सवेदना होनी चाहिए, उस का विकास कौतूहलवर्द्धक नाटकीय शैली में होना चाहिए, तथा चरम सीमा पर पहुँचकर एकाङ्की का अन्त होना चाहिए।

२—एकाङ्की में अभिव्यञ्जित घटनाओं का चुनाव जीवन की दैनिक घटनाओं में से होना चाहिए जिससे उसमें यथार्थता एवं मनोरञ्जन का समावेश हो सके।

३ दो विरोधी पात्रों या वर्गों के विरोधी भावों में संघर्ष दिखाया जाना चाहिए। सङ्घर्ष ही एकाङ्की का प्राण है।

४—एकाङ्की के कथानक में कौतूहल, जिज्ञासा, गति की तीव्रता एवं चरम सीमा में परिणति होनी चाहिए।

५—यथार्थवाद को स्थान देते हुए आदर्शवाद की ओर संकेत किया जा सकता है।

६—एकाङ्की में सामाजिकता एवं जीवन से निकटता बनाये रखने के लिए संकलन-त्रय का पालन कठोरता से होना चाहिये। संकलन-त्रय से तात्पर्य है—समय की एकता, स्थान की एकता और कार्य की एकता।

हिन्दी एकांकीकारों के विचारों का गहरा मन्थन करते हुये डा० रामचरण महेन्द्र ने अन्त में एकांकी के आठ तत्व निर्धारित किये हैं—(१) कथावस्तु, (२) संकलन-त्रय, (४) पात्र और चरित्र-चित्रण, (५) कथोपकथन, (६) अभिनयशीलता, (७) रंग मंच-निर्देश और (८) प्रभाव-ऐक्य।

प्रसिद्ध एकांकीकार उपेन्द्रनाथ अश्क जी का मत है कि "रंग संकेत, कार्यगति, अभिनय, संवाद, वातावरण, चरित्र-चित्रण, प्रकाश अथवा छाया का उचित अथवा अनुचित प्रयोग किसी एकांकी को सफल अथवा असफल बनाते हैं। सफल एकांकी में रंग-संकेत स्पष्ट कार्य-गति क्षिप्र, अभिनय सुन्दर, संवाद चुस्त और चुटीले, चरित्र-चित्रण यथार्थ तथा मनोवैज्ञानिक और

हमारे प्रकाशन

श्री सत्यदेव चतुर्वेदी लिखित पुस्तकें

१—**गोस्वामी तुलसीदास और राम कथा**—सम्यक् राम-कथा-साहित्य का गहन अध्ययन प्रस्तुत करते हुये लेखक ने राम-कथा की ऋग्वेद से ही उत्पत्ति, विभिन्न देशों और भाषाओं में उसका प्रसरण तथा गोस्वामी तुलसीदास पर मौलिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। छात्राध्यापकों के अतिरिक्त राम-कथा के प्रेमी अन्य जिज्ञासु भी इससे लाभ उठा सकते हैं। इसकी कुछ विशेषताएँ हैं—गोस्वामीजी की सारग्राहिणी प्रवृत्ति, दार्शनिक भावना, भाव-पक्ष, कला पक्ष, राम-कथा का संगठन, मानस के आधार ग्रन्थ, तुलसीदास और उनका कवित्व, अन्य राम-कथा सम्बन्धी रचनाएँ और भाषा सम्बन्धी विचार आदि। मूल्य ५.००

२—**हिन्दी काव्य की भक्तिकालीन साधना** - इसमें भारतीय परम्परा पर प्रकाश डालते हुए सूर, तुलसी, कबीर और जायसी की रचनाओं की समीक्षा की गयी है, जिसकी विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की है। पुस्तक छात्रोपयोगी है। मूल्य ५.००

३—**साहित्य-दर्शन**—हिन्दी के शीर्षस्थ विद्वानों के लिखे गये आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह, जो हाई-स्कूल से बी० ए० तक के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। मू० ४.५०

४—**साहित्य-परीक्षण**—साहित्य-दर्शन की ही भाँति इस उपयोगी पुस्तक का मू० ३.००

५—**अमितवेग**—भक्त प्रवर हनुमान के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक कथाओं को एक ही कथा-सूत्र में ग्रथित कर उनके जीवन-चरित को महत्वपूर्ण कृति 'गोस्वामी तुलसीदास और राम-कथा' के आधार पर औपन्यासिक ढंग से प्रस्तुत कर लेखक ने राम-कथा-प्रेमियों को एक उत्कृष्ट रचना प्रदान की है। मू० ४.५०

६—**रानी तिष्यरक्षिता**—इसमें अनेक मर्मस्पर्शी, करुण और रोचक प्रसंगों की सृष्टि कर लेखक ने अत्यन्त आकर्षक परिसंवादों एवं धारा-प्रवाह भाषा में सम्राट अशोक, युवराज कुणाल तथा रानी तिष्यरक्षिता से सम्बन्धित ऐतिहासिक रोमाञ्चकारी कथानक को औपन्यासिक रूप प्रदान किया है। यह पुस्तक उत्तर-प्रदेशीय सरकार द्वारा बिकास-खण्ड की लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत है। मू० ४.००

७—**अन्तरिक्ष की लहरें**—लेखक ने अपनी इस औपन्यासिक उत्तम कलाकृति में बोधगम्य एवं प्रवाहमयी भाषा-शैली के माध्यम से रोचक कथा-प्रसङ्गों का जो चित्रण किया है, वे पाठक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। जिज्ञासा उत्पन्न कर आगे पढ़ने की ओर प्रेरित करना इस उपन्यास की विशेषता है। ४.००

८—**अज्ञात के दिन**—महाभारत के विराट पर्व की कथा प्रस्तुत कृति में औपन्यासिक ढङ्ग से लेखक ने सूक्ष्म दृष्टि से अत्यन्त रोचक प्रसङ्गों का चयन कर कथानक में अद्भुत् आकर्षण पैदा कर दिया है। लेखक की कल्पना शक्ति, सन्तुलित आकर्षक परिसंवाद और उपयुक्त भाषा का प्रयोग आदि देखकर निश्चय ही कहा जा सकता है कि रचना हिन्दी-साहित्य के औपन्यासिक क्षेत्र में एक उत्तम कलाकृति है। मू० ३.००

९—**किरणप्रभा**—यह मुगलकालीन ऐतिहासिक रोमांचकारी उपन्यास है, जो महाराज छत्रसाल एवं उनकी दृढ़ चरित्रा रानी किरणप्रभा के जीवन की उत्कृष्ट एवं उत्प्रेरक घटनाओं पर आधारित सफल कृति है। अनेक मर्मस्पर्शी और आकर्षक कथा-प्रसङ्गों से भरी-पूरी रचना है। निश्चय ही यह कृति पाठकों को प्रभावित किये बिना न रहेगी। मूल्य ४.००

१०—**ललित-कथाएँ**—महाभारत की श्रेष्ठ उपदेश-प्रद चुनी हुई कहानियों का संग्रह। सजिल्द, आकर्षक आवरण से युक्त पुस्तक का मूल्य १.२५

११—**मधुर कथाएँ**—लोक-प्रचलित अत्यन्त महत्व-पूर्ण कथाओं का संग्रह कर लेखक ने बाल-साहित्य में एक अच्छी पुस्तक प्रस्तुत की है। सजिल्द एवं नयनाभिराम आवरण से युक्त पुस्तक का मू० १.२५

१२—**अकबर बीरबल की कथाएँ**—अकबर बीरबल की प्रचलित कथाओं में श्रेष्ठ कथाओं का संग्रह है। सजिल्द, आकर्षक आवरण आदि से सुसज्जित पुस्तक का मूल्य १.२५

१३—**अमर प्रेम**—ले० 'ललितेश' कृष्ण और सुदामा से सम्बन्धित खण्डकाव्य। मूल्य १.००

१४—**शतदल और दीप**—ले० मार्कण्डेयसिंह 'चिन्ता रचित श्रेष्ठ कविताओं का संग्रह। मू० १.००

१४—**सम्राट अशोक**—ले० अनन्तबहादुरसिंह एम० ए०। इस नाटक मे लेखक ने अपना मौलिक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। इसे सफलता से अभिनीत किया जा चुका है। मूल्य २.००

इनके अतिरिक्त हमारे यहाँ दूसरे प्रकाशकों की भी पुस्तकें उपलब्ध रहती हैं। हमारे यहाँ से प्रकाशित साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक आदि विभिन्न विषयों की मासिक पत्रिका 'साहित्यायन' के ग्राहक बनें। नियमावली के लिये हमें लिखें—

व्यवस्थापक—**हिन्दी-साहित्य सृजन परिषद, चौक, जौनपुर (उ० प्र०)**

अवसर के अनुसार प्रकाश अथवा छाया का प्रयोग होना चाहिये।" डा० दशरथ ओझा ने बताया है कि जो एकांकी मनोरञ्जन और उन्नयन दोनों का संतुलन कर सकेगा वही सफल एकांकी माना जायगा। आज का व्यस्त मानव-समाज अल्प से अल्प काल में अधिकाधिक विचार ग्रहण करन और मनोरञ्जन करना चाहता है।

एकाङ्की के तत्व—

कथानक—सफल तथा फलप्रद कथानक में साधारण जीवन से सम्बद्ध, उत्तेजना अर्थात् पग-पग पर कुतूहल तथा जिज्ञासा की जाग्रति, विस्मय अर्थात् अन्तिम फल को अन्त तक दुविधा में छिपे रहना और रोचकता का होना जरूरी है। एकांकी की विस्तार सीमा छोटी होती है। मुख्य कथा रखने का ही प्रयत्न किया जाता है। उसमें प्रासङ्गिक व गौण कथा का निषेध किया जाता है। एकाङ्की के कथानक का रूप तब दर्शकों के सम्मुख आता है जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिए उसके प्रारम्भिक वाक्य में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओं की व्यञ्जना चुम्बक की भाँति हृदय आकर्षित करती है। कथानक क्षिप्रगति से आगे बढ़ता है और एक-एक भावना घटना को घनीभूत करते हुए गूढ़ कौतूहल के साथ चरमसीमा में चमक उठती है। समस्त जीवन एक घण्टे के सङ्घर्ष में और वहाँ की घटनाएँ एक मुस्कान या एक आँसू में उभर आती हैं, ये चाहे सुखान्त रूप में हों चाहे दुखान्त रूप में। इस घनीभूत घटनारोह में चरमसीमा विद्युत की भाँति गतिशील होकर आलोक उत्पन्न करती है और एकाङ्कीकार समस्त वेग से बादल की भाँति गर्जन करता हुआ नीचे आता है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में प्रवेश कुतूहलता की वक्रगति से होता है। घटनाओं की व्यञ्जना उत्सुकता से लम्बी हो जाती है। फिर घटना में गति की घनीभूत तरंगें आती हैं जो कुतूहलता से खिंचकर चरमसीमा में परिणत होती हैं। चरम सीमा के बाद ही एकांकी की समाप्ति हो जानी चाहिये नहीं तो समस्त कथानक फीका पड़ जाता है।

नाट्य विधान की दृष्टि से एकांकी के मुख्य अङ्ग हैं—

(१) **उद्घाटन**—पर्दा उठते ही दर्शक मण्डली का मन लेखक की दुनिया में प्रविष्ट हो जाना चाहिये। इसके तीन ढङ्ग हैं—प्रायः लेखक अपने रंग-संकेतों द्वारा अपना वातावरण बनाता है अथवा किसी एक मूक-अभिनय द्वारा दर्शकों को आकर्षित करता है और या फिर कुछ क्षणों के लिये संवाद द्वारा अपने वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ होता है।

(२) **टिकाव**—उद्घाटन के वातावरण का इस अवस्था में लेखक के उद्देश्य सम्बन्धी पात्र और घटनाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेता है और परिणाम के लिये उत्सुक रहता है। उसके मन में अनेक प्रश्न उठते हैं और वह उनका उत्तर पाना चाहता है।

(३) **विकास**—इस अवस्था में एकांकीकार को अपने कार्य और कारण की अभिव्यञ्जना अनिवार्य है। यदि दोनों में तर्कबद्ध सम्बन्ध नहीं है तो दर्शक कभी एकाङ्की को पसन्द नहीं करेगा।

(४) **चरमोत्कर्ष**—इस अवस्था में उसका अपनी दर्शक-मण्डली से निकटतम सम्पर्क रहता है और वह उसके उद्देश्य रूपी सङ्कल्प के लिए आतुर होती है। वास्तव में यही वह केन्द्रबिन्दु है जिस पर आकर कार्य-व्यापार के समस्त सूत्र एकत्रित हैं और गूंथकर एक बनाये जाते हैं और इसके पश्चात्—

(५) **अन्त**—अपनी दर्शक-मण्डली को इतनी देर आतुर रखने का प्रसाद एकाङ्कीकार को देना होता है। यह अन्त सम्भव है वैसा तर्क-जन्य न हो जैसा कि 'तर्क' शब्द के अर्थ में प्रचलित है परन्तु यह निश्चय है कि वह अन्त एकाङ्कीकार के तर्क के अनुसार सत्य हो और उन घटनाओं के उद्घाटन एवं विकास के अनुकूल हो जिनका उल्लेख कर एकाङ्कीकार ने अपने दर्शकों की उत्कण्ठा जाग्रत की थी।

कथोपकथन—एकाङ्की की कथावस्तु पात्रों के परस्पर वार्त्तालाप से विकसित होती है। पात्रों की बातचीत सहज, स्वाभाविक, तर्कपूर्ण और दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली होनी चाहिए। रोमाञ्चकारी घटनाएँ, मुख्य विचार और एकाङ्कीकार का जीवन-दर्शन विभिन्न पात्रों के कथोपकथन में प्रकट होना अपरिहार्य है।

संवादों द्वारा चरित्र-चित्रण में गहनता, बारीकी और विभिन्नता लाई जाती है। कथोपकथन में भाषा की सरलता और पात्रों के अनुसार विभिन्नता का विशेष-ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक शब्द का महत्त्व है। संवाद मर्मस्पर्शी, भावाभिव्यञ्जक और विचारपूर्ण होना चाहिए। उसमें शक्ति हो, सजीवता हो और श्रुति माधुर्य हो। पाठकों और दर्शकों के मन में वह उन्हीं भावनाओं का उद्रेक कर सकें, जो पात्र के मन में उन परिस्थितियों में सम्भव हैं। पात्रों के भाषण छोटे, सरल तथा पात्रों के वय, स्थिति और चरित्रों के अनुकूल हों। डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार "कथोपकथन हमें पात्रों की सूक्ष्म बातें समझाने में सहायक होते हैं। पात्रों के भावों, विचारों और प्रवृत्तियों आदि के विकास और विरोध आदि का पता हमें कथोपकथन से ही चलता है।"

संवाद ही एकाङ्की का मूलाधार है। संवाद की वास्तविकता में ही उसका प्राण है। संवाद में हास्य, श्लेष, परिहास, व्यंग्य सभी का प्रभावपूर्ण प्रयोग समयानुसार हो सकता है। प्रभावोत्पादकता इसका प्रधान गुण है।

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता, निष्पक्षता, सहानुभूति तथा काल्पनिकता बहुत कुछ अंशों में एकाङ्की की सफलता की उत्तरदायी होगी। प्रत्येक पात्र जो रङ्गस्थल पर प्रस्तुत किया जाय उसका व्यक्तित्व, स्वत्व तथा उत्तरदयित्व अलग होना चाहिए। नायक का व्यक्तित्व जितना स्पष्ट होगा उतनी ही एकाङ्की प्रभाव पूर्ण होगी। जितने निष्पक्ष रूप से उनका कार्य-क्रम प्रदर्शित किया जायगा उतना ही उनका कार्य सन्तोषप्रद तथा स्वाभाविक होगा और जितनी सहानुभूति तथा स्वाभाविकता से उसके भावों की प्रगति होगी उतने ही उसमें साहित्यिक अमरत्व के गुण विकसित होंगे। जितना ही एकाङ्कीकर का निरीक्षण तीव्र होगा, जितनी ही उसकी आँखें मँजी हुई होंगी, जितना ही उसका अनुभव व्यापक होगा, उतना ही चरित्र-चित्रण प्रभाव पूर्ण तथा सन्तोषदायी होगा।

अनुभवात्मक निरीक्षण तथा स्वाभाविकता पात्र-निर्माण के प्राण-स्वरूप हैं। पात्रों की चित्तवृत्ति अथवा प्रवृत्ति द्वारा विभिन्नता सरलता से लाई जा सकती है। अन्योन्याश्रित चित्तवृत्ति में भी विभिन्नता प्रकट होती है। व्यक्ति-विशेष की ओर चित्तवृत्ति के साथ-साथ घटनाओं द्वारा जो मानसिक प्रतिक्रिया हुआ करती है उसके फलस्वरूप भी पात्र-वैभिन्य प्रदर्शित हो सकता है। चरित्र का स्वाभाविक विकास चरित्र-चित्रण का सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। चरित्र-चित्रण में पात्रों-विशेषतः नायक का चुनाव अत्यन्त सावधानी से होना चाहिए।

प्रो० हरीराम तिवारी के शब्दों में चरित्रों के चुनाव में बड़ी सतर्कता वर्तनी होती है। एक बार यदि किसी पात्र का सृजन कर दिया गया तो अन्त तक उसका निर्वाह होना चाहिए। चरित्र-चित्रण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बाह्य द्वन्द्व से चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

भाषा—एकाङ्की में सर्वत्र एक-सी भाषा हो, जिसके द्वारा कथावस्तु सम्पूर्ण संवेदना एक ही रूप से दर्शकों के हृदय तक पहुँचाई जासके। यदि कथानक में ऐसे पात्र हों जो विदेशी हों और वे अन्य पात्रों से भिन्न भाषा बोलते हों तो उनके संवाद भी अन्य पात्रों के साथ एक ही भाषा में होने चाहिए।

कुछ का मत है कि संवाद की एक ही शैली भिन्न-पात्रों के व्यक्तित्व की स्वाभाविकता के विपरीत है। प्रत्येक व्यक्ति के बात करने का अपना अलग ढङ्ग होता है। प्रत्येक पात्र के स्वभाव और व्यक्तित्व के अनुसार कथोपकथन की शैली का निर्धारण करने से एकांकी में विविधता और रस उद्रेक होगा और कौतूहल को बल प्राप्त होगा।

उद्देश्यः—एकांकी में किसी विचार की आवश्यकता है। विचार (समस्या) की उत्पत्ति के पश्चात उस विचार के विकास के लिए संघर्ष होना अनिवार्य है। विचार और संघर्ष की सम्बद्धता और मनोरञ्जकता के लिए कथा (प्लौट) की सृष्टि होती है। एकांकी में जितना महान विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित एवं मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक

कृति और कथोपकथन होंगे, वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा। एकांकी का उद्देश्य है कि जो कुछ दृष्ट हो, उसे कार्य, अभिनय, सङ्गीत, नृत्य, वेश-भूषा आदि द्वारा रंगमंच पर स्पष्ट करके दिखाया जाय।

अभिनयशीलता:—अभिनय में स्वाभाविकता पर बल दिया जाना चाहिये। तोते की तरह रटे हुए शब्दों के रंगमंच पर दुहरा देना ठीक नहीं होता। मुँह से जो शब्द निकलें उनके साथ ही साथ शरीर के अंगों का संचालन भी ऐसा होना चाहिए कि जो आपस में सामञ्जस्य स्थापित कर रंगमंच पर मनुष्य की स्वाभाविक जिन्दगी दिखला दें अथवा हमारा नित्य का जीवन जैसा है रंगमंच का जीवन उसके साथ मेल खा सके। पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है उतना स्वगत नहीं। मनुष्य के भीतरी भाव एकान्त में भी उसकी भावभंगी चेहरे की आकृति या कभी-कभी किसी तरह का काम कर देने में व्यक्त होते हैं चुपचाप कुर्सी पर बैठकर, चारपाई पर लेटकर या जमीन पर खड़ा होकर व्याख्यान देने में नहीं। मनुष्य ऐसा कभी करता ही नहीं। अभिनय में चित्र उपस्थित किए जाते हैं। इसमें संगीत की भी आवश्यकता होती है। पर्दे के अन्दर संगीतज्ञों के बैठने का प्रबन्ध होना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, मानव आत्माभिव्यंजन करने वाला प्राणी है। उसके अन्तस्थल में सागर की उत्ताल-तरङ्गों की भाँति जिन सूक्ष्म उमंगों, भावनाओं तथा कटु-मृदु अनुभूतियों का आवर्त्तन चलता रहता है, वह उसे भावोद्वेग को नृत्य, संगीत, कायिक हलचल, मुख के विभिन्न हाव-भावों, अंगों-प्रत्यंगों के तोड़ मरोड़ तथा आन्तरिक-भाव विन्यास के अनुसार गतिशील अभिनय के द्वारा व्यक्त करता है। बिना क्रियाओं मुख मुद्राओं तथा कायिक अभिनय के परितुष्टि नहीं होती। जब मानव किसी मर्मस्पर्शी घटना का वर्णन करते-करते शब्दों को अभिव्यक्ति के लिये अपूर्ण पाते हैं, तो स्वभावतः हाथों से स्थिति को अभिनय द्वारा प्रकट कर देता है। भावात्मक और कलात्मक रुचि के व्यक्ति सब के समक्ष हाव-भाव, मुख-मुद्राओं, नृत्य, स्वर-संधान तथा अभिनय द्वारा भावाभिव्यञ्जन करते हैं। ग्रामीणों के नृत्यों में अभिनय ही भाषा का रूप ग्रहण कर लेते हैं। नृत्य मानव की एक प्रबल उद्दाम प्रेरणा की कलापूर्ण अभिव्यक्ति है। अभिनय के हेतु प्रायः एकांकियों की रचना की जाती है।

रंगमंच—प्रसिद्ध एकाङ्कीकार सेठ गोविन्ददास का कथन है कि "एकाङ्कीकार को लिखने की विधि के साथ-साथ ही रङ्गमञ्च सम्बन्धी विधि की ओर लक्ष्य रखना आवश्यक है। रङ्गमञ्च सम्बन्धी बातों में एकाङ्कीकार को दृश्यों की व्यवस्था, पात्रों की वेशभूषा तथा पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान आदि पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।" रङ्गमञ्च का ध्यान रखने के लिए अनेक बंधन लग जाते हैं। अनेक बार रङ्गमञ्च की सुविधा के लिए ही कुछ दृश्य घटाने-बढ़ाने पड़ते हैं। जो एकाङ्की रङ्गमञ्च को ध्यान में रखकर लिखा गया है, उनका पूर्ण सौन्दर्य रङ्गमञ्च पर ही देखा जा सकता है।

एकाङ्कीकार का यह भी कर्तव्य है कि वह अभिनय-कला, रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं, दृश्यों का पट-परिवर्तन, रङ्गमञ्च की सामग्री, दृश्य दिखाने की विधि, नई आधुनिकतम सुविधाएँ, पात्रों की वेश-भूषा तथा दृश्यों के क्रम निर्माण पर ध्यान रखे। डा० रामकुमार वर्मा का मत है कि "अभिनय कला में वेष-भूषा का अध्ययन, संगीत, प्रकाश-व्यवस्था और विविध भावों के प्रदर्शन की कला निहित है। अभिनय के योग्य एकाङ्कियों की सृष्टि करने के लिए रङ्गमञ्च की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना जरूरी है।"

वेष-भूषा—पात्रों की वेश-भूषा, मेक-अप आदि की ओर ध्यान रखना चाहिए। जिस युग, वय, स्थिति और विचार धारा के पात्र हों, वैसा ही उनका मेक-अप, वस्त्र, दाढ़ी मूच्छें शरीर आदि हों। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों को उनके अनुरूप वेश-भूषा और अलङ्कार को धारण करना आवश्यक है।

रस-सृष्टि—रस सञ्चार के बिना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। रसानुभूति की पूर्णता के लिये सहृदयता, संवेदन शील संस्कारों और विवेक की आव-

श्यकता रहती है। सफल एकाङ्कीकार कथानक के प्रधान भाव के अनुसार ही रस सृष्टि करता है। भरत मुनि के अनुसार नाटकों के चार प्रधान रस हैं—शृङ्गार रस, वीर रस, वीभत्स रस और रौद्र रस। शृङ्गार में हास्य का, वीर से अद्‌भुत का, वीभत्स से भयङ्कर का और रौद्र से करुण का उदय होता है।

भाव प्राधान्य—वस्तु निर्माण में एक ही स्थल, एक ही भावना, एक ही स्थिति, तथा एक ही भाव अथवा चित्तवृत्ति का प्राधान्य रखना पड़ता है। एक भावना के फल-स्वरूप दर्शक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। एकाङ्की का प्राण केवल एक ही भावना-विशेष में निहित रहता है।

सामंजस्य तथा समन्वय—वस्तु के जो-जो अङ्ग और जो-जो स्थल चुने जाते हैं उन स्थलों में सम्पूर्ण सामञ्जस्य तथा समन्वय होना चाहिए। एकाङ्की के स्थल एक दूसरे से सहज तथा नैसर्गिक रूप में बिंधे हुए रहना चाहिए।

ध्यानाकर्षण—दर्शकों के ध्यानाकर्षण पर एकांकी की नब्बे फीसदी सफलता निहित रहती है। दर्शक शुरू से ही विस्मय और संशय के पाश में इतना जकड़ दिया जाय कि अन्त तक उसका छुटकारा न हो सके और एकांकी के पटाक्षेप के बाद भी उसकी आत्मा, विस्मय, संशय तथा उद्विग्नता के सागर में डूबती तिराती रहे। विस्मय तथा संशय के अभ्युत्थान, उसकी प्रगति तथा उसके अन्त के प्रदर्शन में जिस कला की आवश्यकता पड़ती है उसकी कदाचित् एकांकी के अन्य स्थलों के प्रदर्शन में नहीं पड़ती। कथानक चुनना सरल है; वस्तु समन्वय भी सरल है परन्तु दर्शक के हृदय में विस्मय के प्रसार द्वारा उनका ध्यानाकर्षण कठिन है।

संकलन-त्रयः—एकांकी का सब से बड़ा गुण संकलन-त्रय अर्थात् समय, स्थान और कार्य गति का गुम्फन है। एक हो समय में एक ही स्थान पर एक-सी गति से नाटकीय कार्य चलता है। प्रायः एकांकी रंग-मंच पर उतने समय में खेला जाता है, जिसमें कि वह वास्तविक जीवन में खेला जा सकता है। यह संकलन-त्रय आधुनिक एकांकी को वास्तविकता का अपूर्व पुट दे देता है। यूनानी टेकनीक की दृष्टि से संकलन त्रय (three Unities) में स्थान संकलन, काल-संकलन और कार्य या वस्तु-संकलन समन्वित रहते हैं।

(१) **कालसंकलनः**—इतने काल की कथा ली जाय कि एकांकी के सुनने, पढ़ने और देखने में कोई अस्वाभाविकता न पड़े। जितने समय की कथा ली जाय वह एकांकी में सतचित रूप से नियोजित और संभावित ज्ञात हो।

(२) **स्थान संकलनः**—इस स्थल-संकलन के पालन में एकांकी की वस्तु सीमित हो जाती है और कल्पना पूरे उन्मेष और वस्तु-विविधता का भी अवकाश नहीं रहता। स्थान के विषय में अनौचित्य और अस्वाभाविकता का समावेश न हो। देश वा स्थान की दृष्टि से एकांकी में स्वाभाविकता का औचित्य होना चाहिये। ऐसा न हो कि जिस कालावधि में किसी स्थान पर जो घटना संभव न हो उसकी नियोजना कर दी जाय।

(३) **वस्तु अथवा कार्य संकलनः**—एकांकी में कार्य सम्बन्धी अस्वाभाविकता और अनौचित्य की नियोजन भी नहीं होनी चाहिये। वस्तु-संकलन के अन्तर्गत प्रासंगिक और प्रधान कथाओं के समुचित संगठन तथा स्वाभाविक अभिनय का ध्यान रखा जाता है। प्रासंगिक वस्तु का न तो इतना विस्तार होना चाहिए कि आधिकारिक कथा वस्तु क्षीण लगने लगे और न आधिकारिक कथा वस्तु से वह नितान्त अलग ही जान पड़नी चाहिए।

एकांकी के प्रत्येक कार्य में पारस्पारिक रूप से सुसंबद्ध अन्विति अथवा एकता होनी चाहिए। अन्वितियाँ (थ्री युनिटीज) पारस्परिक रूप से संबद्ध हैं, इनमें से किसी की भी उपेक्षा करने से एकांकी में दोष आ सकता है।

—कर्नाटक कालेज, धारवाड़।

एकांकी में सङ्कलन-त्रय

डा० सावित्री शुक्ल

एकाङ्की नाटक में सङ्कलन त्रय के महत्त्व पर विचार करने से पूर्व सङ्कलन त्रय के स्वरूप, रूप रेखा, महत्त्व एवं अनिवार्यता पर सविस्तार विवेचना कर लेना अपेक्षित होगा। सङ्कलन त्रय से अभिप्राय है कार्य समय एवं स्थान की इकाई का सङ्कलन अथवा अन्विति। डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित का कथन है कि नाटक की घटनाओं के हेतु पात्रों के प्रदर्शन में समय की इकाई अत्यावश्यक है। घटनाओं के सङ्गठित होने अथवा पात्रों के चरित्र प्रदर्शन में अधिक अन्तर अपेक्षित नहीं है। उदाहरणार्थं सञ्जय के चरित्र या स्वभाव का प्रदर्शन करना है तो उसके जीवन के कतिपय घण्टों अथवा कतिपय दिनों के अन्तर्गत ही उसके स्वभाव का सम्यक रूप से उद्घाटन कर देना चाहिए। तीसरी इकाई कार्य की है। नाटक एक संक्षिप्त रचना है। उसके अन्तर्गत जीवन की एक रश्मि साकार हो उठती है। अथवा जीवन की एक घटना सजीव रूप में प्रतुस्त होती है। नाटक में पात्र के ही कृत्य या क्रियाकलाप को प्रस्तुत करना चाहिए इन्हीं तीनों को एकाङ्की कला के विशेषज्ञों ने तीन इकाई कहा है। कतिपय विद्वानों ने इन तीनों इकाइयों को नाटकों के हेतु अतीव आवश्यक माना है और कुछ का मत है कि तीन के स्थान पर दो ही संकलन (संकलन द्वय) नाटक के लिए आवश्यक है।

सेठ गोविन्ददास के मतानुसार सम्पूर्ण नाटक के लिए संकलन त्रय जो नाट्य कला की विकास की दृष्टि से बड़ा भारी अवरोध है वही संकलन-त्रय किंचित हेर फेर और परिवर्तन के साथ एकांकी नाटक के लिए आवश्यक है। संकलन त्रय में 'संकलन द्वय' अर्थात् नाटक में एक ही समय की घटनात्मक परिमित रहे तथा एक ही कृत्य के सम्बन्ध में हो, एकांकी नाटक के लिए अनिवार्य है!

एकांकी नाटक में एक से अधिक भी दृश्य हो सकते हैं, पर यह नहीं हो सकता है कि एक दृश्य आज की घटना का हो, दूसरा पन्द्रह दिनों के बाद की घटना का, तीसरा कुछ महीनों के पश्चात् का और चौथा कुछ वर्षों के अन्तर का। यदि किसी एकांकी में एक से अधिक दृश्य होते हैं तो वे उसी समय की लगातार होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में हो सकते हैं। स्थल संकलन जरूरी नहीं है, पर काल संकलन होना ही चाहिए। किसी-किसी एकांकी नाटक के लिए काल संकलन भी अवरोध हो सकता है।

डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार 'एकांकी ही एक ऐसी रूपक रचना है जिनमें संकलन त्रय का विधान अनिवार्य रूप से आवश्यक है। एक सम्पूर्ण कार्य एक ही स्थान पर एक ही समय में घटित हो। यदि स्थानों और अवसरों की विविधता उपस्थित की गई तो अन्य नाटकों की शैली से एकांकी नाटक शैली में अन्तर ही क्या रहा? एकांकी नाटककार की कुशलता तो यहीं पर है कि वह एक ही स्थान पर कार्यों की विविध घटनाओं की क्रिया और प्रतिक्रिया इस भाँति उपस्थित करे कि कुतूहलता की सञ्चित राशि चरमसीमा में उभर कर किसी सत्य की ओर संकेत कर दे। अतः एकाङ्की में अनेक दृश्यों का विधान एकाङ्की कला के विपरीत चला जाता है, घटनाओं की विकासोन्मुखता को आघात पहुँचता है और एकाङ्की की सम्बद्धता विनष्ट हो जाती है। एकाङ्की की कला तो तभी पूर्ण कही जा सकती है,जब घटना कार्य का रूप लेकर अपने रूपमें कसी हुई हो, उसका संकेत जीवन के किसी तथ्य की ओर हो और वह अपने रूप में किसी अन्य घटना की अपेक्षा न रखती हो। वह घटना अपने ऐसे रूपमें उपस्थित हो कि चरम परिणति एक ही स्थान पर हो और ऐसे क्षण में हो जो-

विविध दृश्यों की माँग न करे। इसी शैली में सङ्कलन-त्रय का विधान है जो एकाङ्की कला के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।"

डा० नगेन्द्र का मत है कि एकाङ्की में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसकी एक पहलू एक महत्त्वपूर्ण घटना एक विशेष परिस्थिति अथवा उद्दीप्त क्षण का चित्रण मिलेगा। उसके लिए एकता एवं एकाग्रता अनिवार्य है। किसी प्रकार का वस्तु विभेद उसे सह्य नहीं है। एकाग्रता में आकस्मिकता की झकोर आप आजाती है और इस झकोर में स्पन्दन उत्पन्न होता है। सङ्कलनत्रय का निर्वाह भी इस एकाग्रता में काफी सहायक होता है पर वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अनिवार्य है ही लेकिन स्थान और काल की एकता का निर्वाह किए बिना भी सफल एकाङ्की रचना हो सकती है।

उपर्युक्त हिन्दी के इन तीनों विद्वानों के अभिमत सङ्कलन-त्रय की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण है। सेठ गोविन्ददास, डा० नगेन्द्र और डा० रामकुमार वर्मा के मतों में प्रचुर विभिन्नता है। सेठ गोविन्ददास 'सङ्कलन द्वय' (समय और कृत्य के समर्थक हैं), डा० नगेन्द्र ने काल और स्थल की एकता को भी नहीं स्वीकार किया, डा० रामकुमार वर्मा परम्परा के प्रतिपादक और समर्थक हैं। पाश्चात्य दार्शनिक अरिस्टाटिल का मत है कि काल एवं कृत्य का सङ्कलन अत्यन्त आवश्यक है। रिनेसा काल (पुनरुत्थान काल) में इग्लैण्ड में स्थल सङ्कलन भी आवश्यक माना जाने लगा था।

इस सङ्कलन-त्रय के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। प्रत्येक का अपना दृष्टिकोण है। किसी ने काल और कृत्य की एकता पर बल दिया है। अन्य विद्वानों ने स्थल और काल को आवश्यक माना है। एक तृतीय वर्ग है जो कृत्य और स्थल का समर्थक है। हिन्दी के एकाङ्की लेखकों में से बहुतों ने सङ्कलन त्रय पर ध्यान नहीं दिया है। सच बात यह है कि उन्हें इसका ज्ञान भी नहीं है। फिर भी उनके नाटक सफल हैं! 'उस पार' और 'सोहाग बिन्दी' में स्थल की इकाई को स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकार उपेन्द्रनाथ अश्क के 'लक्ष्मी का स्वागत' में स्थल भेद लेश मात्र भी नहीं है परन्तु फिर भी ये तीनों सफल एकाङ्की हैं। 'एक ही कब्र में' तथा 'सोहाग-बिन्दी' में काल-भेद प्रचुर है। हिन्दी के बहुत से एकाङ्की नाटकों में वर्षों का काल-भेद अभिव्यक्त हुआ है, फिर भी उनमें सफल एकाङ्की के तत्व सन्निहित हैं। काल-भेद की दृष्टि से डा० वर्मा का 'पृथ्वीराज की आँखें', 'दस मिनट' तथा अश्क का 'अधिकार का रक्षक' सफल एकाङ्की हैं। इनका अभिनय अनेक बार हो चुका है।

सङ्कलन-त्रय एक अद्भुत पहेली है। इसका रहस्य दुर्गम है। सङ्कलन-त्रय के विवेचन के अन्त में हम डा० सत्येन्द्र का प्रस्तुत कथन स्वीकार करते हैं—

"कलाकारों के कौशल ने इन विभिन्नताओं को ऐसा दबा दिया है कि नाटक की सफलता में ये बाधा नहीं पहुंचाते" तो इस अभिनव परिस्थिति में पहुँचने के अनन्तर क्या हम यह निष्कर्ष दें कि सङ्कलन-त्रय का कोई मूल्य नहीं है? उसका कोई महत्व नहीं है, उसकी रचना का कोई लक्ष्य नहीं है? और इसके सम्बन्ध में विरचित इतने मतों के निर्धारण में जो समय और प्रतिभाओं का नियोजन हुआ क्या वह सब निष्फल गया? जब बिना सङ्कलन त्रय का परिपालन किए हुए सफल एकाङ्कियों की रचना हो सकती है तो इसकी दुरूह साधना के लिए व्यर्थ का परिश्रम क्यों किया जाय?

—१२३, गुईन रोड, गोलागञ्ज, लखनऊ।

———

उपन्यास की परिभाषा तथा तत्त्व

डा० मोहनलाल शर्मा

जिस प्रकार साहित्य की अन्य विधा को परिभाषा बद्ध करना सहज नहीं है, ठीक वैसे ही कठिनाई उपन्यास की परिभाषा करने में उपस्थित हो जाती है। यह कह देने में तो कोई कठिनाई नहीं है कि उपन्यास गद्य साहित्य का ही एक रूप है। किन्तु गद्य साहित्य के तो अनेक रूप हैं, नाटक, कहानी, संस्मरण, रेखा-चित्र आदि सभी तो इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। कुछ विद्वानों ने तो उपन्यास को एक लम्बी कहानी और कहानी को संक्षिप्त उपन्यास कह कर कहानी और उपन्यास के अन्तर को ही समाप्त कर दिया है। सामान्यतया उपन्यास को अन्य सभी साहित्यिक विधाओं से लचीला समझा जाता है। अंग्रेजी विद्वान ई० एम० फोर्स्टर ने उपन्यास को 'साहित्य के द्रवित क्षेत्रों में से एक' कह कर इसकी परिभाषा करने की चेष्टा की है। पर्सी लूबक ने अपनी पुस्तक The craft of Fiction नामक पुस्तक में कुछ और क्रान्तिकारी विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार "पाठक उपन्यास को कभी पूर्ण रूप में अपने सम्मुख नहीं देखता है, यह तो थोड़ा थोड़ा करके, एक एक पृष्ठ करके उसके सम्मुख खुलता रहता है और जितनी शीघ्रता पूर्वक खुलता है उतनी ही जल्दी इसका पटाक्षेप हो जाता है। पूर्ण रूप में इसका अास्तित्व तो उन्हीं व्यक्तियों के मस्तिष्क में हो सकता है जिनकी स्मरण शक्ति अत्यन्त प्रखर हो। यह सामान्य पुरुषों के सामर्थ्य से बाहर की बात है।" इससे भी भयङ्कर परिभाषा तो पौल वेलरी ने दी है। वे उपन्यास की तुलना स्वप्न से करते हैं। "स्वरूप में उपन्यास स्वप्न की सीमा तक पहुँच जाता है। दोनों की तुलना इसी रूप में की जा सकती है कि उनकी विषय-असंबद्धता में क्या सम्बन्ध है।" हडसन के विचार से भी उपन्यास साहित्यिक अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों में सबसे अधिक लचीला और अनियमित रूप है। उनके अनुसार नाटक साहित्यिक कला सबसे स्थिर रूप है और उपन्यास सबसे अस्थिर।

उपन्यास की कोई सुनिश्चित परिभाषा करने से पूर्व यह देख लेना वांछनीय है कि सामान्यतया उसका क्या रूप होता है ? और उसकी सामान्य विशेषताएँ क्या हैं ?

कहानी सुनने का कौतूहल और कहने की लालसा मानव स्वभाव में प्रारम्भ से ही रही है। इसी कारण कहानी साहित्य का अस्तित्व जनपदीय साहित्य में लोक कथाओं के रूप में हमें अत्यन्त प्राचीन काल से ही मिल जाता है। उपन्यास उसी कहानी कला का परिवर्तित और विस्तृत रूप है। कहानी कहना उपन्यसकार का प्रमुख कार्य होता है। यही तत्त्व उपन्यास शास्त्र की आधार शिला है। कहानी कहने में उपन्यासकार को यह सुविधा रहती है कि चाहे वह कहानी स्वयं कहे अथवा इसके लिए वह अपने किसी पात्र का आश्रय ले। सामान्य तौर पर उन्यासकार दोनों ही विधियों को अपनाते हैं। कुछ बातें वे स्वयं कह जाते हैं और शेष की पूर्ति के लिये वे पात्रों का सहारा लेते हैं। इस रूप में उपन्यासकार को नाटककार से विशेष सुविधा मिलती है। नाटककार को सभी बातें पात्रों के द्वारा कहलवानी पड़ती हैं, जिन्हें उपन्यासकार स्वयं भी कह दिया करता है।

उपन्यास को यदि कहानियों का विकसित रूप कह दिया जाय तो संभवतः असमीचीन न होगा। यह रूप परिवर्तित सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थितियों की देन है। किन्तु अब तो यह निश्चय है कि उपन्यासों ने अपना पृथक अस्तित्व बना लिया है और इस क्षेत्र में अब अनेकानेक परीक्षण किए जारहे हैं। अंग्रेजी और अमेरिकन साहित्य में तो यहाँ तक देखने में आ रहा है कि बिना कहानी और कथातत्व के भी उपन्यास लिखे जारहे हैं। कुतूहल वृत्ति उपन्यासों का प्रधान गुण है,

इसी वृत्ति की रक्षा उपन्यासकार करते हुए कथा की मात्रा निकाल ही डालते हैं अथवा उसे अत्यन्त संक्षिप्त अथवा नाम मात्र कर देते हैं। अमेरिका में तो अब वैज्ञानिक उपन्यास, दूसरे शब्दों में विज्ञान सम्बन्धी विषयों की जानकारी देने वाले उपन्यासों का एक युग ही चल पड़ा है। इसका अर्थ यह हुआ कि कथानक जैसे तत्व के रूप में हमें कुछ भी देखने को नहीं मिल पाता है। इन नवीन प्रयोगों के विपरीत भी विद्वानों ने उपन्यासों के कुछ सामान्य तत्वों की चर्चा की है।

कथावस्तु उपन्यास का सर्व प्रथम तत्त्व है। उपन्यास जीवन की प्रतिकृति है, इसलिए उसका सम्बन्ध मानव-व्यापारों क्रिया-कलापों और घटनाओं से होता है, इसी को उपन्यास की कथावस्तु कहते हैं। (दे० हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव)। इस कथावस्तु से तात्पर्य उपन्यास की मूल वस्तु से होता है। उपन्यास की कला इसी वस्तु की संघटना तथा निर्वाह में निहित है। उपन्यासकार किसी विशेष योजना के आधार पर अपनी कथा को सङ्घटित करके घटनाओं को क्रम देता है। दूसरे शब्दों में उपन्यास के अन्तर्गत आई इन्हीं क्रमबद्ध घटनाओं की योजना को कथावस्तु नाम से सम्बोधित किया जाता है। यद्यपि जीवन की घटनाओं में इतना सरल और सीधा कोई क्रम नहीं होता है और न कोई सफलीभूत योजना ही वहाँ काम करती है, किन्तु उपन्यासकार बिना योजना बनाये आगे नहीं बढ़ सकता। इसीलिए वह जीवन की विशृंखलता में भी एक क्रम स्थापित कर देता है। उपन्यास की कहानी इतनी रोचक होनी चाहिए कि पाठक की वृत्ति असली संसार के चीत्कार और हाहाकार को भूलकर कुछ समय के लिए उसमें रमण करने लगे। सामान्यतया वे घटनायें जो लेखक की अनुभूतियों पर विशेष आघात करती हैं उपन्यास में समाविष्ट की जानी चाहिए। किन्तु उसमें यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि उपन्यासकार अपनी मन: कल्पना के तथा योजना शक्ति के द्वारा विलक्षण और असुङ्गत घटनाओं को सलक्षण और सुसङ्गत करके चित्रित करे।

कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यासों के दो भाग किए जा सकते हैं। एक तो ऐसे उपन्यास हैं जिनकी कथावस्तु सुसङ्गठित और सुसम्बद्ध होती है। दूसरी ओर कुछ ऐसे उपन्यास देखने में आते हैं जिनकी घटनाओं का क्रम अस्थिर और असम्बद्ध सा होता है। पहले प्रकार के उपन्यासों में कथावस्तु इतनी सुगठित होती है कि उनमें क्रम निर्वाह भी भली प्रकार किया जा सकता है। किन्तु दूसरे प्रकार के उपन्यासों में तो बेमेल घटनाओं का घटाटोप मात्र होता है। इनका क्रम अत्यन्त असङ्गत होता है। इन घटनाओं के क्रम को स्थिर करने में अथवा उनको कोई विशेष क्रम देने में तो उपन्यासकार की कल्पना अपना कार्य करती है।

उपन्यास की घटनाओं के विधाता मानव को उपन्यास सृष्टि के पात्र की संज्ञा दीजाती है। मुंशी प्रेमचंद के शब्दों में उपन्यास मानव चरित्र का चित्र है। सचमुच देखा जाय तो चरित्र चित्रण में ही कला का रहस्य निहित है। चरित्र चित्रण का सीधा अर्थ है रागों और मनोवेगों के आधार स्वरूप मानव पात्रों का चित्रण। सफल उपन्यासकार वही है जो अपने पात्रों को सजीव और आकर्षक चित्रित कर सके। यदि उपन्यास के पात्र पाठक की सहानुभूति अथवा क्रोध के पात्र बन जाते हैं तो समझ लेना चाहिये कि उपन्यासकार को वास्तविक सफलता प्राप्त हो गई। उपन्यास के पात्रों में यदि पाठक अपने जैसा ही राग, द्वेष, क्रोध, करुणा, प्यार आदि भाव देखने लगे, वे विभिन्न परिस्थितियों में मानव जैसा ही आचरण करते रहें तो यह चरित्र चित्रण की सफलता का चिह्न है।

उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण लेखक विशेषतया अपनी कल्पना के अधार पर ही करता है। उनके चालढाल वेशभूषा और बातचीत का अनुमान लेखक अपनी वर्णन प्रणाली के आधार पर करता है। इसीके सहारे वह अपने पात्रों में प्राणशक्ति का सञ्चार करता है। किन्तु यदि लेखक मानव प्रकृति से पूर्णतया परिचित नहीं है तो वह पात्रों का सजीव चित्रण नहीं कर सकता है। मानव-प्रकृति का बाह्य ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है आन्तरिक ज्ञान प्राप्त करना।

चरित्र-चित्रण की प्रधानतः दो प्रणालियाँ होती हैं। पहली विश्लेषणात्मक और दूसरी प्रत्यक्ष वर्णनात्मक। पहली पद्धति में उपन्यासकार धीरे-धीरे अपने पात्रों के क्रिया कलापों का विचार करता है और उन्हीं के आधार पर उनके चरित्र की विशेषताओं को स्पष्ट करता जाता है। लेकिन कभी कभी उपन्यासकार अपने पात्रों के विषय में स्वयं ही टीका टिप्पणी करने लगता है। यह प्रत्यक्ष पद्धति है। विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रभाव पाठक पर अधिक गहरा होता है। वास्तव में कलात्मक ढंग तो वही है कि पात्रों के विषय में स्वयं लेखक को कुछ भी न कहना पड़े। किन्तु आज के जमाने में जिस प्रकार के उपन्यास लिखे जारहे हैं उनके आधार पर चरित्र चित्रण सम्बन्धी कोई नियम नहीं बनाये जा सकते। जब पात्रों का ही पूर्ण निखार नहीं देखने को मिलता है तो चरित्र चित्रण के नाम पर विशेष आशा क्या की जा सकती है।

चरित्र चित्रण के पश्चात् उपन्यास शास्त्र में महत्व का तत्त्व है कथोपकथन। सरल शब्दों में कथोपकथन पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप को कहा जा सकता है। इसके द्वारा एक ओर तो उपन्यास की कथा का विस्तार होता है और दूसरी ओर इससे पात्रों के चरित्र के विषय में बहुत कुछ जानकारी मिल ही जाती है। एक पात्र जो कुछ बात करता है उसके जीवन के विषय में तो अनुमान किए ही जा सकते हैं साथ ही वह जिन पात्रों के विषय में चर्चा करता है वह भी चरित्र-चित्रण में बहुत कुछ मदद करती है। पात्रों की बातचीत स्वाभाविक और प्रसंगानुकूल होना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही कथोपकथन नीरस भी नहीं होने चाहिये। प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ उपन्यासों में कथोपकथन अधिक होते हैं और कुछ में बहुत कम। जिनमें कथोपकथन कम होता है उनमें बहुत कुछ स्वयं कह देने का अधिकार लेखक अपने में समेट लेता है। वार्तालाप को जहाँ तक होसके नीरस होने से बचाना चाहिये।

कथोपकथन की एक सबसे बड़ी विशेषता होती है कि वे पात्रों के सामाजिक स्तर और उनके जीवन पहलुओं के अनुरूप हो हों। इसके लिए लेखक को मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को तो भली प्रकार समझ ही लेना चाहिये साथ ही भाषा के जितने स्तर हो सकते हों उनका भी विचार उसे करना चाहिये। अपने स्वभाव और ज्ञान के अनुसार प्रत्येक पात्र बात करे। किसी अशिक्षित व्यक्ति के द्वारा दर्शन शास्त्र पर शास्त्रार्थ कराना एक प्रकार से असमीचीन ही होगा। आधुनिक आंचलिक उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक प्रयोग किए जा रहे हैं।

कथोपकथन के अतिरिक्त उपन्यास में किसी देश और काल का चित्र अंकित किया जाता है। यही वातावरण भी है। उपन्यास अधिकांशतः किसी विशेष देश एवं काल का चित्रण किया करता है। भिन्न भिन्न कालों में लिखे गये उपन्यासों के द्वारा इस बात को और भी अधिक पुष्ट किया जा सकता है। 'साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है' वाला कथन यदि कहीं पूर्ण रूप में लागू करके देखना है तो वह—उपन्यास के क्षेत्र में। किसी विशेष समय की रीति रिवाज, लोगों की वेशभूषा तथा सामाजिक सम्बन्धों की खोज करनी है तो वह विशेषकर उपन्यासों में मिल सकेगी। शैली उपन्यासों का कोई पृथक तत्व नहीं है। शैली से विशेष प्रयोजन भाषा शैली से होता है। प्रत्येक उपन्यासकार इस बात का ध्यान रखता है कि उपन्यास की भाषा अधिक जटिल और अस्वाभाविक न होने पावे। उपन्यास मनोरञ्जन की वस्तु है अतएव पाठक को उपन्यास पढ़ते समय शब्दकोषों की सहायता न लेनी पड़े।

इसके अतिरिक्त कुछ आलोचक उद्देश्य को भी उपन्यासों का एक तत्व मानते हैं। वैसे यदि देखा जाय तो प्रत्येक कला कृति का कुछ न कुछ प्रयोजन होता है।

उपरोक्त तत्वों के आधार पर उपन्यासों को गद्य में लिखी गई ऐसी लम्बी कहानी कह सकते हैं जिसमें कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन के अतिरिक्त देशकाल और उदेश्य का भी विचार किया गया हो कथावस्तु और चरित्र चित्रण के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व को अनावश्यक रूप से उपन्यास पर लादना समीचीन नहीं है।

—राघोगंज, देवास (म० प्र०)

उपन्यास और यथार्थ

प्रो० मूलचन्द सेठिया

उपन्यासकार का यथार्थ जीवन का चिर विकासशील यथार्थ होता है। यथार्थ का कोई स्थिर स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि वह जीवन और जगत् के गत्यात्मक सत्य का अनुगामी होता है। समाज की द्वन्द्वात्मक शक्तियों के सङ्घर्ष से यथार्थ के जिन नव-नव रूपों का उद्भावन होता रहता है, उनको आत्मसात् करने में उपन्यासकार तथ्यग्राहिणी दृष्टि का परिचय देता है। जो उपन्यासकार यथार्थ को विकृत रूप में उपस्थित करते हैं, उनके सृजन में चाहे कितना ही श्रम क्यों न किया गया हो, वे सुन्दर किन्तु निष्प्राण शरीर की तरह आकर्षण की अपेक्षा विकर्षण ही अधिक उत्पन्न करते हैं। नवीनतम हिन्दी उपन्यासों में 'नदी के द्वीप' की शिल्प-सज्जा की दृष्टि से चाहे कितनी ही प्रशंसा क्यों न हुई हो, सामाजिक यथार्थ को ग्रहण करने में 'अज्ञेय' की वक्रदृष्टि के कारण उसे लोक-मानस की वह प्रीति और प्रतीति प्राप्त नहीं हो सकी, जो यथार्थवादी कृतियों के लिए सहज प्राप्य होती है। यथार्थवादी उपन्यासकार की दृष्टि कभी इतनी अहं-केन्द्रित नहीं हो सकती कि वह अपने क्षुद्र अहं के आर-पार देख ही न सके और वर्तमान को अतीत एवं भविष्य से सर्वथा पृथक् कर वर्त्तमान के क्षणों को ही सनातन सत्य स्वीकार कर ले। क्षणों का सत्य अतीत के सन्दर्भ और भविष्य की सङ्गति में ही अपनी सार्थकता को प्राप्त करता है।

उपन्यास में यथार्थ के आग्रह का अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि उपन्यासकार केवल प्रतिछवि-अङ्कन करके ही सन्तुष्ट हो जाये और उपन्यास को अपने व्यक्तिगत राग-विराग से सर्वथा मुक्त रखे। प्रकृतवाद के प्रवर्तक एमिल जोला ने स्वयं स्वीकार किया है कि "उपन्यास को एक कलाकृति के रूप में जो महत्त्व प्राप्त होता है वह सामाजिक यथार्थ के ब्योरों का पद्धतिपूर्वक अम्बार लगाने से नहीं, बल्कि उपन्यास की व्यक्तिगत संवेदनशीलता के द्वारा प्राप्त होता है।" लेखक कोरमकोर कैमरे की तरह केवल प्रतिछवि अङ्कित करके ही नहीं रह जाता, उसमें अपनी भावनाओं का रङ्ग भी भरता है। प्रत्येक रचनाकार का वस्तुओं की ओर देखने का अपना एक विशेष कोण होता है और उसके लिए सम्पूर्ण निर्वैयक्तिता का दावा करना निरर्थक ही कहा जा सकता है। मोपासाँ ने लिखा था कि "कोई भी यथार्थवादी अगर कलाकार भी है तो वह जीवन का केवल फोटोग्राफिक चित्र देकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता क्योंकि वह हमारे सम्मुख एक ऐसा दृश्य उपस्थित करता है जो यथार्थ की अपेक्षाकृत पूर्णता और स्पष्टतर होने के साथ ही स्वयं यथार्थ से भी अधिक बाध्यकारी रूप से विश्वसनीय होता है।"

यथार्थवादी उपन्यासकार यद्यपि असम्भाव्यता के वर्जित प्रदेश में पदार्पण करने से अपने आपको सदैव बचाता रहता है, लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह केवल सतही यथार्थ को ग्रहण करता है और हमारे चर्मचक्षुओं के सामने आने वाली क्षुद्र वास्तविकताओं को सजाने-सँवारने में ही अपनी रचनात्मक क्षमता की इतिश्री मान लेता है। उपन्यासकार की यथार्थ ग्राहिकता दृश्य में नहीं, उसकी दृष्टि में होती है। वह किसी भी तथ्य को ऐकान्तिक रूप से ग्रहण नहीं करता, बल्कि उसे सामाजिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ में रख कर उन द्वन्द्वात्मक शक्तियों का विश्लेषण करता है जो उसका पूर्व कारण या भावी परिणाम हो सकती है। उपन्यासकार केवल जीवन का द्रष्टा ही नहीं होता, वह उसका स्रष्टा भी होता है। वह अपनी कल्पना के साँचे में ढाल कर कुछ जीवन चरित्रों को अपनी ओर से प्रस्तुत भी करता है। कलाकार अपनी साहित्य सृष्टि से इतना तटस्थ नहीं हो सकता कि सूत्रधार की तरह दूर से ही कठपुतलियों को नचाता रहे, बल्कि वह

अपनी मानस-सृष्टियों में अपने व्यक्तित्व को भी लय कर देता है। प्रेमचन्द का होरी न कभी जन्मा होगा और न कभी मरा होगा, परन्तु वह किसी भी हाड़-मांस के होरी की अपेक्षा जीवंत और प्राणवान् चरित्र है। होरी इसीलिए असत्य और अयथार्थ नहीं हो सकता कि उसका जन्म प्रेमचन्द की कल्पना में हुआ था। होरी को जो यथार्थता प्राप्त हुई है, वह उसके जन्म-मरण के कारण नहीं, उसके स्रष्टा की यथार्थग्राहिणी जीवन दृष्टि के कारण प्राप्त हुई है।

उपन्यासकार का यथार्थ वस्तुगत यथार्थ न हो कर भावगत यथार्थ होता है। वस्तुगत यथार्थ का दर्शन हमें समाचार पत्र के पृष्ठों पर होता है। नित्य प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों में शायद ही कोई ऐसी बात हो जो कभी न कभी कहीं न कहीं घटित न हुई हो, परन्तु घटित होने मात्र से ही वे हमारे लिये आकर्षक नहीं हो जातीं। उन्हें पढ़ कर हमारी अन्तर्चेतना में किसी गहन अनुभूति का सञ्चार नहीं होता और उनको भूल भी जाते हैं। परन्तु उपन्यास में वर्णित घटनाएँ चाहे कभी घटित नहीं हुई हों, पर उनमें सम्भाव्यता का वह सूत्र होता है जिसे पकड़ कर हम उनकी मूल प्रेरक शक्तियों तक पहुँच जाते हैं। सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रख कर प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार दास्ता-वस्की ने निकोले स्ट्राखोव को पत्र में लिखा था—"दिन प्रतिदिन की तुच्छ घटनाओं के शुष्क निरीक्षण को यथार्थवाद के रूप में स्वीकार करना मैं बहुत पहिले छोड़ चुका हूँ। बल्कि वास्तविकता ठीक इससे उल्टी है।" इसी प्रकार फ्लावर्ट ने तुर्गनेव को एक पत्र में लिखा था—"वास्तविकता तो केवल एक स्प्रिंगबोर्ड है। हमारे मित्र यह समझने की भूल कर बैठते हैं कि सत्य के समस्त साम्राज्य का सम्बन्ध केवल इसी से है। संसार के इन महान् यथार्थवादी उपन्यासकारों ने वास्त-विकता के सम्बन्ध में जो उपरिलिखित उद्गार व्यक्त किए हैं, वे उसकी अवमानना के उद्देश्य से नहीं, बल्कि उसकी सीमा निर्दिष्ट करने के उद्देश्य से ही प्रेरित हैं।

जीवन एक कबाड़खाने की तरह होता है जिसमें सुई से लेकर मूसल और हीरे से लेकर पत्थर तक सब कुछ मिलता है। उपन्यासकार की यथार्थवादिता से हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह अपनी रचना में सब कुछ प्रस्तुत कर दे। अंग्रेजी उपन्यास में Put in every thing की प्रवृत्ति चली थी, परन्तु कला की कसौटी पर वे उपन्यास खरे नहीं उतर सके। कलाकार को अपने उपयोग के लिए जीवन के अनन्त वैविध्य और विस्तार में से चयन करना ही पड़ता है। कलाकार की कला का रहस्य उसकी ग्रहण और त्याग की क्षमता पर ही निर्भर करता है। उसकी यथार्थवादिता का चमत्कार इसी में प्रदर्शित होता है कि जीवन के विपुल विस्तार में से वह कुछ ऐसे दृश्य हमारे सम्मुख उपस्थित करता है जो वस्तुस्थिति के अन्तर्निहित सत्य को स्पष्ट कर देते हैं। आधुनिक अंग्रेजी उपन्यास के प्रवर्तक हेनरी जेम्स का यह कथन सर्वथा सत्य है "Life is all inclusion and confusion and art all discrimination and selection".

कलाकार वास्तविकता का केवल निरीक्षण ही नहीं करता, वह उसे अपने उद्देश्य के अनुकूल रूपाकार भी प्रदान करता है। उपन्यास ही नहीं, किसी भी कलाकृति में यथार्थ का जो रूप चित्रित होता है वह कलाकार का भावगत यथार्थ ही होता है। कलाकार पहले यथार्थ को भावित करता है और फिर उसे अपनी कला सृष्टि में प्रतिष्ठित करता है। श्री अमृतलाल नागर ने 'बूंद और समुद्र' में लखनऊ के चौक मुहल्ले का जो यथार्थ चित्र अंकित किया है उसकी प्रभावोत्पादकता के सम्बन्ध में दो राय नहीं हो सकतीं। परन्तु बूंद और समुद्र का चौक यथार्थ का कैसा ही वास्तविक भ्रम उत्पन्न क्यों न करे, वह अमृतलाल नागर द्वारा भावित चौक ही है। किसी अन्य यथार्थवादी उपन्यास में भी चौक का उतना ही यथार्थ चित्रण सम्भव हो सकता है, परन्तु बूंद और समुद्र के चौक से वह निश्चय ही भिन्न होगा। एक दूसरे से भिन्न होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि उन दोनों में से कोई भी एक दूसरे से कुछ कम यथार्थ हो!

एक सृजनशील कलाकार के सम्मुख यथार्थ का

कलात्मक निर्वाह कुछ व्यावहारिक समस्याएँ भी उपस्थित कर देता है। विशेषत: उपन्यासकार अपनी रचना को रोचक और आकर्षक बनाने के कर्तव्य से कभी मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु जीवन की सर्व सामान्य घटनाएँ पूर्णतः यथार्थ होने पर भी इतनी नीरस और महत्व हीन होती हैं कि उनका यथातथ्य चित्रण किसी प्रकार की भी रोचकता उत्पन्न नहीं कर सकता। उपन्यासकार को जहाँ एक ओर पाठक के लिए यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करना पड़ता है वहाँ दूसरी ओर उसे अतिसामान्यता से भी बचना पड़ता है ताकि उसकी रचना में आकर्षण और मनोरञ्जकत्व बना रहे। रचनाकार के लिए यह एक कठोर अग्नि-परीक्षा होती है। यथार्थ की अनुकृति मात्र होने से कोई भी रचना एक कलाकृति का गौरव प्राप्त नहीं कर सकती। रचना प्रक्रिया की इस अनिवार्य समस्या का समाधान करने के लिए कलाकार को सामान्य और असामान्य के बीच एक सन्तुलन स्थापित करना पड़ता है, ताकि पाठक को यथार्थ का साक्षात्कार कराते हुए भी वह उसे रोचकता से वञ्चित न करे।

यथार्थवाद पर अनेक दिशाओं से विविध प्रकार के आरोप की बौछार भी हुई है। एक ओर आदर्शवादी विचारों ने यथार्थवाद पर जीवन के कुत्सित और असत् पक्ष को उभार कर रखने का दोषारोपण किया है तो दूसरी ओर रल्फ फॉक्स जैसे प्रगतिशील आलोचक ने भी यथार्थवाद को उपन्यास का उत्तरदायी ठहराया है। आधुनिक उपन्यासकार ने व्यक्तित्व के, नायक का काम छोड़ कर साधारण परिस्थितियों में–साधारण लोगों का चित्रण करने के फेर में न केवल यथार्थवाद से ही, बल्कि जीवन से भी नाता तोड़ लिया है। जेम्स ज्वायस को लीजिए, जो साधारण मानव का चित्रण करने पर इतने दत्तचित्त हैं कि डब्लिन के एक अत्यन्त साधारण औसत आदमी को चुनते हैं और साधारण परिस्थितियों में उसका चित्रण करने पर तत्पर वह अपने नायक का परिचय कराते समय उसे टट्टी में बैठा हुआ पेश करते हैं। इसी प्रकार फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रभावित नग्न यथार्थवाद भी केवल काम-कुण्ठाओं पर केन्द्रित होने के कारण मानवीय व्यक्तित्व का एकाङ्गी चित्र प्रस्तुत करता है। यौन समस्या को ही मूलभूत समस्या मान लेने का परिमाण यह हुआ कि समग्र जीवन की बहुविध समस्याएँ आखों से ओझल रह गई हैं। परन्तु यथार्थवाद की ये सीमाएँ यथार्थ सीमाएँ नहीं हैं। यथार्थ को ग्रहण करने की एकाङ्गी दृष्टि के कारण यथार्थ का सीमित और विकृत रूप प्रस्तुत होता है। कुत्सित समाजशास्त्रीयता के प्रभाव से यथार्थ के नाम पर इतिहास की छीछालेदार भी कुछ कम नहीं हुई है। यथार्थवाद के दावेदार प्रायः यह भूल जाते हैं कि यथार्थ की वेदी पर न कल्पना का बलिदान हो सकता है और न आदर्श का ही गला घोटा जा सकता है। परन्तु, यह सत्य है कि वह कल्पना जिसकी नींव यथार्थ के सुदृढ़ धरातल पर नहीं होती उपन्यास जैसी जीवन्त कला-सृष्टि के लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकती। आज के बौद्धिक युग में मानव का शङ्काकुल मस्तिष्क कोरे भावात्मक आदर्शवाद द्वारा मानसिक परितोष प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। वैयक्तिक उपन्यासों ने मनोविश्लेषण के अत्यधिक आग्रह के कारण इस सत्य को भुला दिया है कि "कोई व्यक्ति सामाजिक समग्रता का केवल अंशमात्र है।" (रैल्फ फॉक्स) समाज की व्यापक पृष्ठभूमि पर स्वयं अपना विकास खोजने वाला जीताजागता मानव ही यथार्थवादी उपन्यास का नायक हो सकता है। 'नदी के द्वीप' का देव-शिशु-भुवन-मनुपुत्रों को अगर अपने से कुछ भिन्न प्रतीत होता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? यथार्थ के एक पक्षीय आग्रह ने जहाँ यथार्थवाद की सीमाओं को स्पष्ट कर दिया है, वहाँ यह स्पष्ट हो चुका है कि कविता और गीतिनाट्य के रेशमी आँचल में भले ही सपनों और कल्पनाओं की आँख मिचौनी चलती रहे, पर उपन्यास का प्राण-तत्व यथार्थ है और यथार्थ को उसके पूर्ण परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करते ही आज का उपन्यासकार प्राणवान् उपन्यासों की सृष्टि कर सकता है।

—बिड़ला आर्ट्स कालेज, पिलानी।

कहानी क्या ?

सं०—डा० कैलाशचन्द्र भाटिया

'निमेषे निमेषे होय जाक शेष
वहि निमेषेर काहिनी।' — कवीन्द्र रवीन्द्र

* * *

"कहानी एक ऐसा उद्यान नहीं है जिसमें भाँति भाँति के फूल, बूटे, बेलें सजे हुए हैं, बल्कि एक ऐसा गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

* * *

"कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल प्रारम्भ होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को दिखा देता है। एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।" —प्रेमचन्द

* * *

"कहानी जीवन की प्रतिच्छाया है और जीवन स्वयं एक अधूरी कहानी है।" —अज्ञेय

* * *

"उपन्यास सांगोपांग जीवन का सम्पूर्ण, विशद और व्यापक दर्शन है परन्तु कहानी जीवन की एक झांकी मात्र है— मार्मिक एवं व्यञ्जनापूर्ण झांकी ऐसी झांकी जो हृदय को झकझोर देती है, मथ देती है और हिला देती है।" —पहाड़ी

* * *

"आधुनिक कहानी साहित्य का एक विकसित कलात्मक रूप है, जिसमें लेखक अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे कम से कम पात्रों अथवा चरित्रों के द्वारा कम से कम घटनाओं और प्रसंगों की सहायता से मनो-वांछित कथानक, चरित्र, वातावरण, दृश्य अथवा प्रभाव की सृष्टि करता है।" —डा० श्रीकृष्णलाल

* * *

"कहानी जीवन रहस्य की अभिव्यञ्जना है। वह एक लघु कथा होती है जिसमें जीवन के किसी एक तत्त्व, किसी एक मर्म और लक्ष्य की झलक रहा करती है। एक अनिश्चय, एक दुविधा तथा संशय चारों ओर से केन्द्रीभूत करके अन्त में स्पष्ट किया जाता है।" —भगवतीप्रसाद वाजपेयी

* * *

"कथावस्तु कठिन स्थिति, अथवा चरित्रावलोकन, हो या न हो, स्वरूप शैली, स्वरूप विधान, एवं लम्बाई-चौड़ाई युक्तिसङ्गत सीमा के अन्दर कैसी ही क्यों न हो, भावी गद्य-कथा वाङ्मय के इस लघु रूप की रचनाओं के लिए ये सब उपकरण आवश्यक हैं और इसके साथ आवश्यक है—'लघुकथा' शब्द का एक व्यापक अर्थ में प्रयोग, जिसमें उसकी ये सभी आवश्यकताएँ भी पूरी हो सकें।" — स्ट्राङ्ग

* * *

"कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा हो कि एक ही बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव के उत्पन्न करने के उद्देश्य से लिखा गया हो। उसमें ऐसी सब बातों का बहिष्कार कर दिया जाता है जो उस प्रभाव को अग्रसर करने में सहायक न हो। आख्यान जो स्वतः पूर्ण हो।"—एलेन पो

* * *

"छोटी कहानी या आख्यायिका एक ऐसा घटना साहित्य है जो घण्टे के अन्दर-अन्दर पढ़ा जा सके, साथ ही जो रोचक और मनोरञ्जक हो चाहे वह लघु हो या वृहत्, मानव सापेक्ष हो या निरपेक्ष, चाहे वह समाप्त होते होते आपको गम्भीर विचार-सागर में डुबोता जाय अथवा तीव्र आनन्द में छोड़ दे, चाहे वह भयावह हो अथवा करुण, हास्यजनक हो अथवा शृङ्गारमय या गहरे चमत्कार से ओत-प्रोत, उसमें जो बात अनिवार्य है वह यह कि उसके पढ़ने में पन्द्रह मिनट से लेकर पचास मिनट से अधिक समय न लगे।" —एच० जी० वेल्स

—विष्णुपुरी, अलीगढ़।

कहानी के तत्व

प्रो० मथुराप्रसाद अग्रवाल

किसी भी कहानी में निम्नलिखित अंग अवश्य होते हैं। इनके अभाव में कहानी के बन पाने की संभावना नहीं है। ये अंग हैं—(१) शीर्षक, (२) आरंभ, (३) मुख्यांश, (४) पराकाष्ठा या चरमसीमा और (५) अन्त।

'शीर्षक' को भी कहानी का अभिन्न अंग माना जाना चाहिये, क्योंकि शीर्षक पर भी कहानी का सौन्दर्य बहुत कुछ निर्भर रहता है। शीर्षक संक्षिप्त, विषय से सम्बद्ध और रोचक होना चाहिये।

कहानी में 'प्रारंभ' का महत्व अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधिक होता है। कहानी का प्रारंभ इतना आकर्षक होना चाहिये कि पाठक उसे पढ़ कर मुग्ध हो उठे। किन्तु इस आकर्षक आरंभ का शेष कहानी के साथ भी पूरा मेल बैठना चाहिये।

'मुख्यांश' में कहानी की कथावस्तु का विस्तार, पात्रों का चरित्र-चित्रण, मानसिक संघर्ष इत्यादि रहता है और कहानी स्थिर गति से पराकाष्ठा की ओर बढ़ती रहती है। इस भाग में पाठक की उत्सुकता निरन्तर बढ़ती जानी चाहिए।

'पराकाष्ठा' या 'चरमसीमा' कहानी का सबसे महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि इसी पर पहुँच कर कहानी का सारा रहस्य खुल जाता है और पाठक को एक चामत्कारिक आनन्द की अनुभूति होती है। बहुत बार इस पराकाष्ठा पर भी कहानी का अन्त कर दिया जाता है।

'अन्त' चाहे पराकाष्ठा पर हो या उसके भी कुछ बाद, किन्तु यह भी सुन्दर होना चाहिए। सुन्दर अन्त उतना ही आवश्यक है जितना सुन्दर प्रारम्भ। कई लेखक कहानी की पराकाष्ठा पर अन्त कर देते हैं, कई कहानी का अन्त सुखद रखते हैं, और कई एसा अन्त रखते हैं जिससे आगे पाठक अपनी कल्पना को स्वयं दौड़ाता रह सके। इनमें से सभी प्रकार के अन्त समय-समय पर कहानी के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकते हैं।

कहानी के तत्त्व—यद्यपि कहानियों का विकास विविध रूपों में हो रहा है फिर भी उन सब में कुछ ऐसे तत्त्व पाये जाते हैं जो कहानी के मूल्यांकन में सहायक होते हैं। कहानी के ये सब ही तत्त्व यदि समुचित रूप में विद्यमान हों तभी कहानी सफल हो सकती है। एक भी तत्त्व का अभाव कहानी को उसकी कला से गिरा देता है। कहानी के छः प्रमुख तत्त्व हैं—

(१) कथावस्तु—प्रत्येक कथाकाव्य में कोई न कोई कथा होती है। इसी को 'कथावस्तु' (वस्तु, कथा, कथानक) कहते हैं। घटनाओं और व्यापारों के समूह का नाम ही कथावस्तु है। कथावस्तु कहानी की जान है अथवा कथावस्तु कहानी का अस्थिपिंजर होता है। कथावस्तु से रहित कहानी रक्तमांसादि से मुक्त अस्थि-रहित लोथड़ा है। 'संक्षिप्तता' कहानी के कथावस्तु की सबसे पहली विशेषता है। एक भी अनावश्यक घटना सामने नहीं आनी चाहिए। "स्थान खाली नहीं" का बोर्ड कथावस्तु के आरम्भ में ही लग जाना चाहिये। कथावस्तु की दूसरी विशेषता है—'मर्मस्पर्शी स्थल'। कथावस्तु में ऐसे स्थल आ जाने चाहिए जिनमें कुछ मर्मस्पर्शी प्रसङ्गों की अवतारणा हो। 'सम्भाव्यता' कथावस्तु की तीसरी विशेषता है। भले ही कथावस्तु काल्पनिक हो, पर उसमें प्रतिपादित सत्य प्रभावोत्पादक हो। 'मौलिकता', 'सुसंगठितता' और 'रोचकता' वस्तु के अन्य प्रमुख गुण हैं। मौलिकता का अर्थ है नवीनता। मौलिकता सर्वथा नवीन कथा की कल्पना करने में ही नहीं होती, किन्तु पुरानी कथा को नवीन रूप देने में भी होती है। प्रतिभाशाली लेखक अपनी प्रतिभा द्वारा पुरानी कथा को भी नवीन रूप देने में समर्थ होता है। वस्तु में किसी न किसी प्रकार की नवीनता अवश्य होनी चाहिये। वस्तु सुसंगठित होनी चाहिये। कोई ऐसी बात न लाई जाय जिसका सम्बन्ध

न दिखाई देता हो। न तो आवश्यक बात छूटने पावे और न अनावश्यक आने पावे। एक घटना दूसरी घटना से स्वाभाविक रूप से निकलती चली जाय। वे टूटी हुई माला के दानों की भांति अलग-अलग न दिखाई पड़ें। रोचकता अच्छी वस्तु का आवश्यक गुण है। रोचकता के लिए नवीनता और अकल्पनीयता की आवश्यकता होती है। कथा की विविध घटनाओं के मोड़ और परिणाम ऐसे हों कि जो कार्य-कारण-शृङ्खला से बाहर न होते हुए भी पाठकों की कल्पना से भिन्न हों। रोचक वस्तु पाठकों की उत्सुकता को बराबर जागरित रखती है।

(२) **पात्र या चरित्र**—कहानी का दूसरा तत्त्व है पात्र। घटना से कम महत्त्व इसका नहीं है। पात्र ही कहानी को आगे बढ़ाते हैं। घटना को कहानी-पात्र ही बनाते हैं। पात्रों के अनेक प्रकार होते हैं। कुछ देवता कहे जाते हैं, कुछ असुर और कुछ मानव। 'देवता' वे होते हैं जिनमें गुण ही गुण होते हैं, दोष या तो बिल्कुल नहीं होते या नगण्य होते हैं। 'असुर' वे होते हैं जिनमें दोष ही दोष होते हैं। गुण या तो बिल्कुल नहीं होते या नगण्य होते हैं, और 'मानव' वे होते हैं जिनमें गुण और दोष दोनों होते हैं। वे भले भी होते हैं और बुरे भी।

कहानी के विकास की दृष्टि से पात्रों के दो भेद होते हैं। 'स्थिर' पात्र जो आरम्भ से अन्त तक एक से ही रहते हैं। और 'गतिशील' पात्र जिनके चरित्र का क्रमशः विकास होता है। पात्रों का एक भेद और भी है। कुछ पात्र 'व्यक्ति चरित्र' होते हैं। उनकी अपनी विशेषताएँ होती हैं। सभी लोगों में वे विशेषताएँ नहीं देखी जातीं। वह हजारों में सबसे अलग दिखाई देता है। कुछ पात्र अपने 'वर्ग के प्रतिनिधि' पात्र होते हैं। उनमें अपने-अपने वर्गों की विशेषताएं पायी जाती हैं, व्यक्तिगत विशेषताओं के दर्शन नहीं होते।

चरित्र-चित्रण के दो प्रकार होते हैं—(१) प्रत्यक्ष (विश्लेषणात्मक) और (२) परोक्ष (अभिनयात्मक, नाटकीय)। प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण में लेखक स्वयं चरित्र की व्याख्या करता या उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। परोक्ष-चरित्र में लेखक के लिए कुछ कहने का अवकाश नहीं होता, स्वयं पात्रों के कथनों या कार्यों से चरित्र-चित्रण होता है, पात्रों की उक्तियों और कार्यों से ही हम उनके चरित्रों का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

चरित्र-चित्रण स्वाभाविक होना चाहिए। पात्रों के केवल गुणों को ही न दिखाकर उनके दोषों को भी दिखलाना चाहिए। उनकी सबलताएँ और निर्बलताएँ दोनों का चित्र उपस्थित करना चाहिए। उनके मानसिक व्यापारों, उद्देश्यों, परिवर्तनों आदि का यथावत् चरित्र ही चरित्र का लक्ष्य है। चरित्रों के चरित्र में आदि से अन्त तक संगति होनी चाहिये। कभी-कभी चरित्र में परिवर्तन उपस्थित होता है। उस परिवर्तन के कारणों को बनाया जाना चाहिये।

(३) **कथोपकथन (संवाद)**—कहानी के पात्र चुप नहीं रहते। वे काम भी मुँह बन्द करके नहीं करते। बोलना उनके लिए आवश्यक है। अतः संवाद या कथोपकथन भी कहानी का आवश्यक तत्त्व है। कथोपकथन का महत्व कथावस्तु से किसी प्रकार कम नहीं। कथोपकथन तिहरा काम करते हैं। (१) पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। (२) कथा-विकास में सहायक होते हैं और (३) कहानी को सजीवता एवं स्वाभाविकता प्रदान करते हैं।

पात्रों की भाषा यथासंभव उनके अनुरूप होनी चाहिए। साधारण पात्रों की भाषा सरल और विद्वानों की पाण्डित्यपूर्ण। कथोपकथन कभी लम्बे नहीं होने चाहिए। लम्बे कथन अस्वाभाविक होते हैं। रचना को रोचक बनाने के लिए सुन्दर कथोपकथन बड़ा सहायक होता है। इसलिए लेखक को कथोपकथन पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। नाटक तो सारा ही कथोपकथनमय होता है। उपन्यास और कहानी में भी उसका अधिक प्रयोग वांछनीय होता है। इससे कथा में नाटकीयता का गुण आजाता है।

(४) **वातावरण (देशकाल)**—वातावरण में देश-काल का चित्रण, वेष-भूषा, साज-सज्जा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार देश-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, ऋतु-वर्णन, काल-वर्णन आदि का समावेश होता है।

साहित्य में जिस स्थान की या जिस समय की कथा कही जाती हो उस स्थान या समय का उचित चित्रण किया जाना चाहिए। किसी देश-विरुद्ध या काल-विरुद्ध बात का कथन नहीं होना चाहिए। ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करना पड़ता है। देश-काल का वर्णन उचित अनुपात से अधिक नहीं होना चाहिए। अधिक होने पर वह कथा को अरोचक बना देगा।

लेखक जिस देश और काल से सम्बद्ध कहानी लिख रहा हो, उसका उसे अच्छा ज्ञान हो। यदि कहानी उसी देश और काल के सम्बन्ध में हो, जिसमें लेखक स्वयं रह रहा है। तो वह सरलता से अपने आस-पास की परिस्थितियों पर आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु ऐतिहासिक कहानियों में या किसी विदेश के सम्बन्ध में लिखी गई कहानियों में यह आवश्यक हो जाता है कि कहानी लिखने से पहले लेखक उस देश और काल के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करे। अन्यथा यह भय है कि वह ऐसी बहुत सी बातें लिख जायगा, जो उस देश या काल में नहीं पायी जाती हों, ऐसी बातें साहित्यिक सत्य के विपरीत होंगी और उनसे कहानी का सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।

प्रकृति का वर्णन कई प्रकार से किया जाता है। कभी कथा को पृष्ठभूमि के रूप में, कभी स्वतन्त्र रूप में और कभी अलङ्कार या अप्रस्तुत रूप में। प्रकृति कभी मानव-भावनाओं के सहचर्य में दिखायी जाती है, कभी उनके विरोध में और कभी उदासीन या तटस्थ रूप में। वातावरण-निर्माण का साधन है वर्णन। लेखक को वर्णन करते समय संयम से काम लेना चाहिये। लम्बे वर्णन उबा देने वाले होते हैं। वर्णन प्रभावक और अवसर के अनुकूल भी होने चाहिए।

(५) **उद्देश्य**—साहित्य का प्रधान उद्देश्य है। आनन्द देना, मनोरञ्जन अथवा मनोरमण करना। साहित्य का गौण उद्देश्य जीवन पर सुन्दर प्रभाव डालना है। साहित्य प्रत्यक्ष रूप से उपदेश नहीं देता। उसका प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है पर वह उपदेशों के प्रभाव से कहीं अधिक शक्तिशाली और स्थायी होता है। नैतिक उपदेश भार प्रतीत होता है। उसके अनुसार चलना सहज नहीं होता, बुद्धि उसे ग्राह्य करती है। पर मन उसके अनुसार कार्य करने में कठिनता से प्रवृत्त होता है। साहित्य हृदय को ही प्रभावित करता है। साहित्य के उपदेश को साहित्याचार्यों ने 'कान्ता-सम्मित उपदेश' कहा है।

जीवन का चित्र उपस्थित करना भी सहित्य विशेषत: कथाकाव्य का एक उपदेश कहा गया है। कभी-कभी लेखक अपने किसी दर्शन या सिद्धान्त या मत के प्रतिपादन के लिये भी कथा-काव्य की रचना करता है। प्रचारात्मक साहित्य अपना बहुत कुछ सौन्दर्य खो बैठते हैं। अत: प्रचार का कभी प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं होना चाहिये वह जितना ही अप्रत्यक्ष होगा उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा।

जो भी हो कहानी का उद्देश्य कहानीकार के मन में स्पष्ट रहना चाहिए कहानी को महान् बनाने के लिए उसे मानव-हृदय की उदात्त भावनाओं को जगाना ही पड़ेगा। कला मर्मज्ञ रायकृष्णदास के शब्दों में कहानी मनोरंजन के साथ-साथ अवश्य किसी न किसी सत्य का उद्घाटन करती है, यह जितना आंशिक और एकदेशीय होगा, कहानी भी उसीअनुपात में निम्नश्रेणी की होगी।

(६) **शैली**—साहित्य के दो पक्ष होते हैं —(१) भाव पक्ष और (२) कलापक्ष। साहित्य में जिन बातों का वर्णन होता है अथात् भाव, विचार आदि के भाव-पक्ष में आती है। साहित्य के कला पक्ष अथवा वर्णन करने का ढंग का ही नाम 'शैली' है। भाव-पक्ष साहित्य की आत्मा है तो कलापक्ष या शैली उसका शरीर।

शैली के अन्तर्गत् शब्द, वाक्य-रचना, लाक्षणिकता, व्यजकता कहावतों-मुहावरों का प्रयोग, अलंकारिता, चित्रात्मकता, स्पष्टता, विनोद एवं व्यंग का प्रयोग आदि पर विचार किया जाता है।

प्रत्येक लेखक के लिखने का अपना ढङ्ग होता है। उसमें लेखक की कतिपय निजी विशेषताएँ होती हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर रचना-विशेष को पढ़ते ही हम बता सकने की स्थिति में होते हैं कि अमुक

(शेष पृष्ठ ७२ पर)

बचत योजना के लिए एजेन्ट चाहिए कृपया जिला संघटनकर्त्ता से सम्पर्क स्थापित करें।

हमारे लोकप्रिय प्रकाशन

शिक्षा—

पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास–डा. स. प्र. चौबे १०.००
मनोविज्ञान और शिक्षा— ,, ,, ,, ,, १२.५०
शिक्षा सिद्धान्त— ,, ,, ,, ,, १०.००
स्कूल स्वास्थ्य विज्ञान— ,, ,, ,, ,, ५.००
अध्यापन कला— ,, ,, ,, ,, ५.००
अध्यापन विधियाँ— ,, ,, ,, ,, ७.५०
दर्शन और शिक्षा— ,, ,, ,, ,, ४.७५
आधुनिक शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त ,, ,, ५.५०
सरल शिक्षा मनोविज्ञान— ,, ६.००
प्रारम्भिक शिक्षा मनोविज्ञान— ,, ३.००
शिक्षा के सिद्धान्त और आधुनिक विकास ,, ३.००
पाठशालाओं का प्रबन्ध— जे० पी० व्यास ४.००
भारत में अंग्रेजी शिक्षण की समस्यायें-आर.पी.गुप्ता ४.५०
मातृभाषा का अध्यापन— भूदेव शास्त्री ३.२५
सामाजिक अध्ययन तथा नागरिक शास्त्र शिक्षण— दिवाकरसिंह ४.५०
बुनियादी शिक्षा में काष्ठकला— डा० श्यामसुन्दरलाल त्रिपाठी २.५०
बुनियादी शिक्षा में कताई बुनाई ,, २.५०
शिक्षा मनोविज्ञान में सांख्यिकी एम. पी. सिंह ४.५०

समाजशास्त्र—

समाज शास्त्र—डा० राजेश्वर अर्गल (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत) ८.००
नागरीय समाज शास्त्र परिचय एल. डब्लू. ब्राउंस तथा बेन्जामिन खाँ ४.५०
समाज मनोविज्ञान – श्रीमती सुरजीत कौर ७.५०

दर्शनशास्त्र—

व्यवहृत मनोविज्ञान— डा० रामशकल पांडे ६.००
भारतीय दर्शन— डा० यदुनाथ सिन्हा ८.५०
मनोविज्ञान ,, ८.००
नीतिशास्त्र दर्शन— श्रीचन्द ४.००
Practical Psychology—R. N. Agrawal ५.००
समाज दर्शन की रूपरेखा— बी० खाँ ३००

अर्थशास्त्र एवं वाणिज्य—

आधुनिक परिवहन—डा० शिवध्यानसिंह चौहान ६.७५
भारतीय व्यापार ,, ,, ,, ४.५०
भारतीय अर्थशास्त्र (द्वि० सं० ६२)—देशश्री ११.००
अर्थशास्त्र : सिद्धान्त एवं विश्लेषण— डा० कपिलदेव उपाध्याय १०.००
राजस्व सिद्धान्त एवं नीति–प्रो. बी. एन. गुप्ता ४.५०
औद्योगिक सङ्गठन— ७.५०
व्योपारिक तथा औद्योगिक सङ्गठन १०.००

भारत में आर्थिक नियोजन— डा० भण्डारी एवं जौहरी १०.००
भारत में उद्योगों का प्रादुर्भाव— डा० एस. पी. शर्मा १.५०
बाजार समाचार तथा निबन्ध-दिग्दर्शन— शर्मा व गुप्ता २.५०
उच्चतर माध्यमिक अर्थशास्त्र— देशश्री ७.५०

भूगोल—

मानव भूगोल –डा. एस. एन. मल्होत्रा एवं जे. पी. सक्सेना १०.५०
माध्यमिक आर्थिक एवं वाणिज्य भूगोल— एम. एल. सोलङ्की ६.००

इतिहास—

भारत में मुसलिम शासन का इतिहास— एस. आर. शर्मा १०.००
भारत में मुगल साम्राज्य (Mugal Empire in India) का हिन्दी भाषान्तर एस. आर. शर्मा १५.००
आधुनिक भारत का निर्माण—एस. आर. शर्मा The Making of Modern India. का हिन्दी भाषान्तर ८.००
भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास— बी. एन. लूनियाँ ७.५०
आधुनिक यूरोप (दो भागों में) बी. एन. मेहता १५.००
विश्व इतिहास दिग्दर्शन—धर्मभानु श्रीवास्तव ४.००

राजनीति—

धर्म निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातन्त्रात्मक परम्परायें—यदुनन्दन कपूर ५.५०
राज्य विज्ञान और शासन : गार्नर Political Science and Government का हिन्दी भाषान्तर १६.००
आधुनिक राजनैतिक चिन्तन कोकर (Recent political thought) का हिन्दी भाषान्तर १२.००
राजनैतिक चिन्तन का इतिहास— History of political thought का हिन्दी भाषान्तर १५.००
दो विश्व-युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धकार— International relation between two world war ६.२५
राज्य-विज्ञान के मूल सिद्धान्त : सूद एवं मेहता १२.००

गृह विज्ञान—

बाल कल्याण के मूल सिद्धान्त : सुखिया एवं शौरी ३.५०
समाजशास्त्र तथा पारिवारिक व्यवस्था ,, २.२५
गृह तथा स्वास्थ्य विज्ञान (दो भाग) पद्मा एवं सुधीर श्रीवास्तव ४.००

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, हास्पिटल रोड, आगरा।

निबन्ध की परिभाषा और उसके तत्व

डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

'निबन्ध' साहित्य की एक अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण विधा है। आज मानव रागात्मिकता से दूर हटकर जैसे-जैसे बौद्धिकता के क्षेत्र की ओर कदम बढ़ाता चला जा रहा है, वैसे ही वैसे प्रत्येक क्षेत्र में उसे पद-पद पर निबन्ध की आवश्यकता अनुभव हो रही है। वैसे भी रागात्मिक क्षेत्र से हटकर बौद्धिकता के क्षेत्र की ओर उन्मुख होने पर ही 'निबन्ध' का प्रादुर्भाव हुआ है, क्योंकि आज कोई भी विषय काव्य द्वारा उतनी सफलता के साथ जनसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं बनाया जाता, जितना कि निबन्ध द्वारा बनाया जाता है। इसलिए विज्ञान हो चाहे वाणिज्य, इतिहास हो चाहे राजनीति, धर्म हो चाहे दर्शन, साहित्य हो चाहे मनोविज्ञान—सभी विषयों को जनसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने के लिए 'निबन्ध' का ही आश्रय लिया जाता है। अतएव विचारों की प्रेषणीयता के लिए सबसे सुलभ एवं सुगम विधा 'निबन्ध' ही है और इसी कारण आज विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है।

आधुनिक निबन्ध की परम्परा, उद्भव एवं विकास पर विचार करते हुए कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध संस्कृत की टीका-पद्धति से जोड़ते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो लिखा भी है कि—"टीका की जिस परम्परा में सिद्धान्तों का प्रतिपादन, उन पर आक्षेप तथा उनका समाधान तर्क द्वारा विषय के स्पष्टीकरण आदि पर अवलम्बित थी, उसी परम्परा पर विकसित नई शाखा 'निबन्ध' कहलाती है। इस परम्परा का विकास धार्मिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप हुआ था, क्योंकि पण्डितों द्वारा धार्मिक व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए नियमन और व्यस्थापन का जो कार्य हुआ, निबन्ध उसीका परिणाम है।" डा० द्विवेदी ने निबन्ध का सम्बन्ध भारतीय टीका परम्परा से जोड़ने का भले ही सुन्दर प्रयास किया हो, परन्तु वास्तविकता यह है कि निबन्ध और टीका पद्धति में आकाश-पाताल का अन्तर है और जिस रूप में निबन्ध-कला आज हिन्दी के क्षेत्र में सर्वत्र विकसित दिखाई देती है, वह पाश्चात्य की ही देन है तथा उसका कोई सम्बन्ध भारत की प्राचीन टीका परम्परा से नहीं है।

अंग्रेजी में निबन्ध शब्द का पर्यायवाची शब्द ऐसे' (Essay), प्रचलित है। इस 'ऐसे' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'मोण्टेन' ने किया था। अंग्रजी साहित्य के अन्तर्गत निबन्ध का इतिहास भी मोण्टेन से ही आरम्भ होता है। श्री हेनरे मोर्ले ने लिखा भी है कि "निबन्ध-लेखन का इतिहास मोण्टेन से आरम्भ होता है। तत्पश्चात् बेकन आते हैं। इन दोनों विद्वानों ने ही 'ऐसे' शब्द का प्रयोग किसी विचार के विषय का विश्लेषण करने अथवा उस पर प्रयत्न करने के लिए किया था। वैसे भी अंग्रेजी में 'ऐसे' का अर्थ प्रयत्न, प्रयोग एवं परीक्षण माना जाता है। इस प्रयत्न के अन्तर्गत अनुभूति, कल्पना और व्यक्तित्व का अद्भुत समावेश रहता है और जनजीवन के प्रति उत्पन्न प्रतिक्रियाओं एवं हृदयोद्गारों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु अंग्रेजी में १८ वीं शती तक निबन्धों का कोई व्यवस्थित एवं क्रम-बद्ध रूप नहीं था, उनमें विचार भी शृंखलाबद्ध नहीं रहते थे। बेकन के निबन्ध इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। संभवतः यही देखकर डा० जानसन ने निबन्ध की परिभाषा करते हुए लिखा था कि "निबन्ध स्वच्छन्द मन की एक ऐसी तरङ्ग है, जिसमें तारतम्य और सुघटन न होकर विशृंखलता का ही प्राधान्य रहता है।" किन्तु आगे चलकर निबन्ध की विशृंखलता एवं क्रम हीनता को उपयुक्त न जान कर निबन्ध में क्रमबद्धता एवं विचारों का तारतम्य लाने का प्रयत्न हुआ। इस दिशा में एडिसन, चार्ल्स-

लेम्ब, मैकाले, पेटर आदि ने प्रयत्न किए और निबन्ध को सुघटित एवं सुसङ्गठित रूप दिया जाने लगा। इसीलिए आगे चलकर अंग्रेजी के विद्वानों ने निबन्ध की परिभाषा भी बदल दी और अल्फ्रेड ऐगर महोदय ने लिखा कि "साधारण एवं साहित्यिक निबन्ध न तो किसी एक विषय का संक्षिप्त विश्लेषण ही है और न वह केवल संक्षिप्त सार है, अपितु वह निबन्धकार के उस मस्तिष्क का चित्र है, जो उस क्षण उस विषय से प्रभावित होता है जिस पर वह निबन्ध लिख रहा है। उसमें प्रमुख रूप से निबन्धकार का 'अहंतत्व' विद्यमान रहता है।" इसी तरह निबन्ध की असम्बद्धता एवं अव्यवस्थितता को दूर करते हुए हर्बर्ट रीड ने पहले तो निबन्ध का स्वरूप निश्चित करते हुए बताया कि निबन्ध ३५०० शब्दों से लेकर ५००० शब्दों तक का होना चाहिए, यदि ३५०० शब्दों से कम कोई निबन्ध हो तो वह रेखाचित्र कहलाएगा और ३५०० शब्दों से अधिक होगा तो उसे लेख कहा जायेगा। इसके उपरान्त निबन्ध की परिभाषा करते हुए बताया कि "निबन्ध किसी का जीवन वृत्त अथवा आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं होता, न वह इतिहास होता है और न एक प्रबन्ध, अपितु निबन्ध में किसी विषय का वैयक्तिक विश्लेषण तो होता है, किन्तु आत्मीयता के रूप में नहीं, निबन्ध विषयगत तो होता है, किन्तु विवेचनात्मक नहीं। निबन्ध के अंतर्गत वैयक्तिकता को महत्व देने का कार्य केवल हर्बर्ट रीड ने ही नहीं किया प्रसिद्ध विद्वान हडसन ने भी इसी वैयक्तिकता पर जोर देते हुए लिखा है कि "सच्चा निबन्ध मुख्यतया वैयक्तिक ही होता है" इतना ही नहीं वैयक्तिकता के साथ-साथ निबन्ध में विचार-शृंखला भी रहनी चाहिए, और गम्भीर विषयों का सुन्दर विश्लेषण करना ही निबन्ध का प्रमुख कार्य होना चाहिए। इन विचारों को मानने वाले श्री लॉक्स हैं, निबन्ध के बारे में जिनका मत है कि "निबन्ध दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण एक गम्भीर विचारराशि' होता है। अतएव निबन्ध अपनी असम्बद्धता एवं विशृंखलता की स्थिति से आगे बढ़कर धीरे-धीरे गम्भीर विचार-शृंखला से परिपूर्ण वैयक्तिकता एवं क्रमबद्धता की ओर उन्मुख हुआ है। इसीलिए अंग्रेजी कोश में निबन्ध की नूतन परिभाषा यह मिलती है कि "निबन्ध एक सीमित आकार, किन्तु विस्तृत शैली में लिखी हुई रचना है।"

इस तरह अंग्रेजी में विभिन्न प्रकार से निबन्ध की परिभाषा करने की चेष्टा हुई है। पहले सभी विद्वानों की दृष्टि में निबन्ध एक अप्रांजल, असम्बद्ध एवं अनियमित रचना थी और इसी कारण माण्टेन, डा० जानसन आदि इसे स्वच्छन्द मन की तरङ्ग अथवा असम्बद्ध एवं विशृङ्खलित प्रयत्न मानते रहे, किन्तु धीरे-धीरे पाश्चात्य विद्वान 'निबन्ध' के महत्व एवं इसकी उपयोगिता से परिचित होते गये और इसकी परिभाषाएं भी बदलती चली गयीं। इसी कारण आगे चलकर निबन्ध कोई असम्बद्ध रचना नहीं, अपितु सम्बद्ध एवं शृङ्खला-बद्ध रचना बन गया। अनियमित रचना नहीं अपितु नियमित हो गया, निर्वैयक्तिक न रहकर वैयक्तिक हो गया और कृत्रिम एवं अपरिपक्व न रहकर कल्पना एवं अनुभूति से परिपूर्ण गम्भीर विषयों के विश्लेषण एवं विवेचन का एक मात्र साधन हो गया।

'निबन्ध' के बारे में भारत भले ही पश्चिम का ऋणी हो किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की ही भाँति भारतीय विद्वानों ने भी स्वतन्त्रता पूर्वक निबन्ध के बारे में विचार किया है। और उनके वे विचार उनकी मौलिकता एवं नवीनता के द्योतक हैं। भारतीय विद्वानों में से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्णशक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है। इसीलिए गद्य-शैली के विवेचक उदाहरणों के लिये अधिकतर निबन्ध ही चुना करते हैं।" इतना ही नहीं शुक्लजी का यह भी विचार है कि "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिये जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।" इस परिभाषा में केवल व्यक्तिगत विशेषता पर ही बल दिया गया है तथा निबन्ध की अन्य विशेषतायें एवं अन्य

तत्त्वों की ओर संकेत नहीं किया गया है। परन्तु आचार्य गुलाबराय ने निबन्ध की परिभाषा करते हुए उसकी कितनी ही अन्तर्बाह्य विशेषताओं की ओर संकेत किया है और लिखा है—"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सङ्गीत और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।" गुलाबरायजी की इस परिभाषा में भारतीय एवं पाश्चात्य सभी लक्षणों का समन्वय किया गया है। डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है "निबन्ध वह साहित्य रूप है जिसमें लेखक ने प्रतिपाद्य विषय के भीतर ही अपनी रुचि, भावना और विचारों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की हो।" इनके अतिरिक्त डा० कोतमरे का विचार है कि "निबन्ध वह एक साहित्यिक और ललित गद्य रचना है, जिसमें लेखक किसी विचार या विषय से प्रभावित होकर अपनी भाषा में अपने भावों या विचारों को, क्रिया तथा प्रतिक्रिया को, ऐसे सजीव ढङ्ग से व्यक्त करता हुआ पाठक की मनोवृत्तियों को सचेत करता है कि वह कुछ काल के लिए प्रभावित होता रहे या विचार करता रहे।" इस परिभाषा में केवल निबन्ध के प्रभाव का वर्णन किया गया है तथा उसकी परिभाषा के लिए अन्य उपकरणों पर ध्यान नहीं दिया गया है।

इनके अतिरिक्त डा० श्यामसुन्दरदास पाश्चात्य परिभाषाओं से ही अधिक प्रभावित थे। अतः उन्होंने यही लिखा कि "निबन्ध की शैली में शैथिल्यपूर्ण वातावरण की ही प्राधानता होती है।" परन्तु हिन्दी के आधुनिक विद्वानों ने निबन्ध पर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त विचार व्यक्त किये हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि "निबन्ध साहित्य के गद्यरूप की महती शक्ति को प्रकट करता है। यह लेखक को निबन्ध सरल शैली में स्फुट रूप देता है।" डा० कन्हैयालाल सहल का मत है कि "निबन्ध सरल शैली में अभिव्यक्त किया हुआ लेखक का निजी दृष्टिकोण है जिसमें आकार-लघुता के साथ-साथ गद्य की कलात्मकता के दर्शन होते हैं।" डा० रामरतन भटनागर का विचार है कि "निबन्ध जीवन के संदर्भ में ही महार्घ बनता है और उसमें हमारी जीवनानुभूति को प्रसार, परिष्कार और गहराई देने की अद्भुत क्षमता है।" श्री जयनाथ नलिन कहते हैं "निबन्ध स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित प्रकाशन है।" साथ ही श्री सीताराम चतुर्वेदी का मत है कि "निबन्ध वह साहित्य रूप है जो न बहुत बड़ा हो न बहुत छोटा, जो गद्यात्मक हो जिसमें किसी विषय का अत्यन्त सरल चलता-सा विवरण हो। विशेषतः उस विषय का वर्णन हो जिसका स्वयं लेखक से सम्बन्ध हो। तात्पर्य यह है कि निबन्ध में किसी विषय पर लेखक की व्यक्तिगत भावनाओं, अनुभवों और विश्वासों का ही विवेचन हो।"

इस प्रकार विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि निबंध में किसी एक विषय पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जाता है, उसमें प्रायः एक विषय पर बल्कि विषय के किसी अंग विशेष पर ही अधिक प्रकाश डाला जाता है। उसमें लेखक के निजी दृष्टिकोण के साथ-साथ उसके आत्मतत्व का प्राधान्य होता है और वह विषय का सूक्ष्म-निरीक्षण करता हुआ अपना स्वतंत्र मत देता है तथा स्वतंत्र निष्कर्ष निकालता है, उसमें आदि से अन्त तक विषय की एक सूत्रता एवं क्रमबद्धता रहती है, उसकी सहज प्रभावोत्पादकता रहती है तथा उसकी शैली सजीव, रोचक एवं प्रसाद-गुण-सम्पन्न होती है। उक्त सभी विशेषताओं के आधार पर निबन्ध की यह परिभाषा की जा सकती है कि "निबन्ध साहित्य की वह विधा है, जिसमें किसी एक विषय पर स्वानुभूति एवं वैयक्तिकता के साथ स्वच्छन्द एवं सजीव विचारों को सीमित आकार में अभिव्यक्त किया जाता है।"

निबन्ध के तत्व – निबन्ध की परिभाषा की ही भांति विद्वानों ने निबन्ध के विभिन्न तत्वों की भी चर्चा की है। कुछ विद्वानों ने निबन्ध के छः तत्व बताये हैं—(१) गद्य-रचना, (२) लेखक का व्यक्तित्व, (३) विचारों की एकसूत्रता, (४) सहज रोचकता, (५) भावों का पुट और (६) औपचारिकता का अभाव।[१]

[१] समीक्षा-शास्त्र – डा० दशरथ ओझा।

कुछ विद्वान निबन्ध के सात तत्व बताते हैं—(१) निबंधकार का व्यक्तित्व, (२) विषय-स्वतन्त्रता और सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि, (३) आकार लघुता अथवा निबन्धन, (४) विचारों की स्वाधीनता तथा अनेकता में एकता या एकसूत्रता, (५) निजी अनुभूति का प्रकाशन, (६) भाव प्रवणता एवं सजीव भाषा शैली तथा (७) सहज प्रभावोत्पादकता।[1] इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान निबन्ध के तीन तत्वों की चर्चा करते हुए (१) सरलता, (२) सुबोधता तथा (३) प्रसाद गुण युक्त व्याख्या को ही निबन्ध के मूल तत्व घोषित करते हैं।[2] परन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उक्त सभी विद्वानों ने निबन्ध के तत्वों का विवेचन न करके निबन्ध की विशेषताओं का ही उल्लेख किया है, क्योंकि तत्व से तात्पर्य उन मूलभूत उपकरणों से है, जिनसे किसी वस्तु या पदार्थ का निर्माण होता है और जिनके बिना उसका कहीं अस्तित्व नहीं रहता। जैसे, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच तत्वों से शरीर का निर्माण होता है। अतएव उक्त पाँच पदार्थ ही शरीर के मूल तत्व हैं। इनके अतिरिक्त जैसे कोई सौन्दर्य, सुडौलता, एकरूपता, सुगठन आदि को शरीर के तत्व कहने लगे—वही दशा उक्त विद्वानों की भी है जिन्होंने एकसूत्रता, रोचकता, सरलता, सुबोधता आदि निबन्ध की विशेषताओं को निबन्ध के तत्व अभिहित किया है। अतः निबन्ध की विशेषतायें कभी निबन्ध के तत्व नहीं हो सकतीं। निबन्ध साहित्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधा है। अतएव साहित्य के मूल तत्त्व ही निबन्ध के तत्त्व हो सकते हैं; किन्तु निबन्ध में साहित्य की अन्य विधाओं से कुछ विशेषता होती है क्योंकि निबन्ध में लेखक की वैयक्तिक अनुभूति के साथ-साथ उसके विषयगत स्वच्छंद विचार रहते हैं, लेखक की कल्पना भी विद्यमान रहती है, जिसके सहारे वह विविध पहलुओं से किसी विषय पर विचार करता हुआ अपने विचारों में एकरूपता लाने की चेष्टा करता है। इसके साथ ही निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व अथवा अहंतत्त्व या आत्मतत्त्व भी विद्यमान रहता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक निबन्धकार का निबन्ध दूर से ही पहचान लिया जाता है और इसके अतिरिक्त प्रत्येक लेखक की लिखने की पद्धति अथवा रचना-शैली भी पृथक-पृथक होती है, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक निबन्धकार अपनी-अपनी विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध हो जाता है। इसीलिए शुक्लजी के निबन्ध आज हिन्दी के सम्पूर्ण निबन्ध साहित्य में पृथक स्थान के अधिकारी बने हुये हैं।

उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि निबंध की विशेषता पृथक वस्तु है और उसके तत्व पृथक् होते हैं। यदि सम्पूर्ण विवेचना को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाय तो कह सकते हैं कि निबंध के पाँच तत्व होते हैं - (१) बुद्धि तत्व, (२) अनुभूति तत्व, (३) कल्पना-तत्व, (४) अहंतत्व और (५) शैली-तत्व। इसमें से बुद्धि-तत्व द्वारा किसी विषय पर विभिन्न दृष्टियों से सोचा जाता है, तथा भावों एवं विचारों का पुट दिया जाता है जिससे सर्वत्र बौद्धिकता का प्राधान्य रहता है। अनुभूति-तत्व द्वारा उन विचारों में प्रौढ़ता, स्वच्छंदता एवं परिपुष्टता आती है। कल्पना-तत्व द्वारा उनमें एकसूत्रता एवं सूक्ष्मनिरीक्षण का सन्निवेश होता है। अहंतत्व द्वारा लेखक के व्यक्तित्व एवं वैयक्तिकता का समावेश होता है। शैली-तत्व द्वारा निबंध को रोचक, मनोरंजक, प्रभावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी बनाया जाता है। इस शैली-तत्व के सहारे ही एक निबंधकार विचारों के अनुकूल उत्कृष्ट एवं सजीव भाषा का प्रयोग करता हुआ अपनी अभिव्यक्ति को मौलिक, स्वच्छंद एवं प्रभावोत्पादक बनाता है और व्यंग्य, हास्य, ध्वनि एवं रमणीयता के साथ-साथ चारुता उत्पन्न करता है। इस तरह उक्त पाँचों तत्वों में से सुसंगठित होकर ही एक निबंध किसी विषय का स्वच्छंद विश्लेषण करता हुआ भावों एवं विचारों का क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत करता है। अतः 'निबंध' साहित्य की एक अत्यन्त उपादेय विधा है।

—एन० आर० ई० सी० कालेज, खुरजा।

———

[1] निबन्ध और रेखा चित्र—ले० दानबहादुर पाठक साहित्य संदेश, निबन्ध विशेषांक, पृष्ठ ५९-६०

[2] साहित्-शास्त्र के सिद्धान्त—ले० सरोजिनी मिश्रा, पृ० ३५५।

निबन्ध का रूप

श्रीमती हर्षनन्दिनी भाटिया

"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है कि "गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" निबन्ध कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि की भाँति मानव की अभिव्यक्ति का एक रूप है। निबन्ध हिन्दी गद्य साहित्य का एक अंग है और उसका विकास नवीन युग की एक विशेषता है।

'निबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है नि + बन्ध = बांधना, संग्रह, रोकना, (वाचस्पत्यम) आयुर्वेद में भी इस शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में 'निबन्ध द्रव्यमेव' द्रव्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। हेमचन्द्र ने संग्रह ग्रन्थ तथा बन्धन के अर्थ में इसका प्रयोग किया है। गीता में भी बांधने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है "दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरीयता।" इस प्रकार अधिकतर निबन्ध का अर्थ अच्छी तरह सुव्यवस्थित रूप से बंधा हुआ है। कहीं-कहीं प्रबन्ध के अर्थ में भी प्रयोग मिलता है, जैसे तुलसीदास जी ने "भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति"

निबन्ध का प्रयोग प्राचीन काल में जब मुद्रण का-का नाम भी नहीं था, भोजपत्र अथवा ताड़पत्र पर लिखकर, लिखित सामग्री को पुस्तक के रूप में संवार कर बांधने व सीने की क्रिया के लिए होता था! धीरे-धीरे निबन्ध शब्द के अर्थ में विकास हुआ और कालान्तर में उसके अर्थ में संकोच हो गया। संकुचित अर्थ था 'संगठन' अथवा विशेष तारतम्य से लगाया गया। तत्पश्चात् केवल साहित्यिक कृति के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा।

संस्कृत में निबन्ध का समानार्थी और अधिक व्यापक शब्द प्रबन्ध है जिसका मूल अर्थ है प्रबन्ध, बांधना, संदर्भ या ग्रन्थ रचना। हिन्दी शब्दसागर में प्रबन्ध का अर्थ दिया गया है—कई वस्तुओं या बातों का एक में ग्रन्थन, एक दूसरे से सम्बद्ध वाक्यरचना का विस्तार लेख या अनेक सम्बद्ध पद्यों में पूरा होने वाला कार्य। इस प्रकार निबन्ध की अपेक्षा प्रबन्ध शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। प्राचीन काल में यह शब्द अपने मौलिक अर्थ में उन समस्त लेखों या रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता था जो किसी कथा या विषय को शास्त्रीय ढङ्ग से गद्य अथवा पद्य में प्रस्तुत करते थे। पद्य का माध्यम ही विशेष प्रचलित था। दूसरे शब्दों में परम्परानुमोदन के साथ किसी विषय या कथा को पद्य में प्रस्तुत करना प्रबन्ध कहलाता है। धीरे-धीरे यह शब्द व्याख्यान या कथा के सम्यक् तारतम्य पर आधारित केवल काव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा और प्रबन्ध काव्य के लिए रूढ़ हो गया। बाल्मीकिकृत रामायण प्रबन्ध काव्य है। दण्डी का 'दशकुमारचरित' प्रबन्ध काव्यात्मक है। किन्तु आज निबन्ध और प्रबन्ध दोनों ही अपने मूल या रूढ़ अर्थों में प्रयुक्त नहीं होते हैं। वर्तमान काल में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण इस अर्थ में भी परिवर्तन हो गया है और प्रबन्ध का प्रयोग गद्य-रचना के लिए होता है जिसमें लेखक किसी विषय का साङ्गोपाङ्ग विस्तार के साथ अपनी भाषा शैली में विवेचन करता है। इसे अंग्रेजी के ट्रीटाइज और थीसिस का समानार्थी कहा जा सकता है। हिन्दी में भी अब आलोचनात्मक तथा गवेषणात्मक रचनाएँ ही प्रबन्ध समझी जाती हैं।

लेखक किसी प्रतिपाद्य विषय को लेकर ही उसके स्वरूप, उपयोग, महत्व आदि को दिखाता हुआ उसकी उपपत्ति एवं विवेचन के साथ अपनी भाषा और अपनी शैली में अपने विचारों का स्पष्टीकरण करता है।

निबन्ध के पर्याय रूप में प्रबन्ध के अतिरिक्त लेख, सन्दर्भ, रचना आदि शब्द भी प्रचलित हैं। लेख तो निबन्ध और प्रबन्ध से भी अधिक व्यापक है। लेख

का मूल अर्थ है— लिखी हुई सामग्री, किन्तु वास्तव में यह गद्य-रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा है जिसमें लेखक प्रमुखतया निर्वैयक्तिक ढङ्ग से किसी विषय पर शास्त्रीय ढङ्ग से प्रकाश डालता है। इसको अँग्रेजी शब्द आर्टिकल के समकक्ष रखा जा सकता है।

सन्दर्भ का अर्थ प्रसङ्ग, सम्बन्ध-निर्वाह, एक साथ बाँधना या बुनना, सङ्कलन करना, व्यवस्थित करना, साहित्यिक रचना या वह ग्रन्थ है जिसमें किसी ग्रन्थ के दुरूह स्थलों का अर्थ दिया गया हो। यह लेख से कम व्यापक है। निबन्ध के पर्याय के रूप में वह गद्यरूप है जिसमें किसी विषय के किन्हीं प्रसङ्गों पर विचार प्रकट किये जाते हैं। हिन्दी शब्द सागर में सन्दर्भ का अर्थ है—रचना, बन्ध, निबन्ध, लेख अथवा वह ग्रन्थ जिसमें किसी और ग्रन्थ के गूढ़ वाक्यों आदि का अर्थ या स्पष्टीकरण हो। गद्यविधान में सभी गद्य रचनाओं का चाहे वे छोटी हों अथवा बड़ी समावेश हो सकता है।

'रचना' का मूल अर्थ कृति है। गद्य अथवा पद्य में भावों, विचारों का सम्बद्ध रूप रचना के अन्तर्गत आता है। सामान्य अर्थों में रचना से निबन्ध या प्रबन्ध का बोध होता है। रचना अंग्रेजी शब्द 'कम्पोजीशन' का समानार्थक है। कम्पोजीशन में वाक्यों के शुद्धरूप और व्याकरण के नियम-पालन की ओर विशेष ध्यान रहता है, किसी विषय तथा उसके प्रतिपादन अथवा शैली की ओर बिल्कुल नहीं। रचना में यही होता है। कम्पोजीशन और रचना दोनों शब्द अत्यन्त व्यापक हैं और निबन्ध सीमित। निबन्ध से जो अर्थ प्रकट होता है वह रचना से नहीं। प्रत्येक निबन्ध रचना कहा जा सकता है परन्तु सभी रचनाएँ निबन्ध की कोटि में नहीं आ सकतीं।

वस्तुतः आज निबन्ध का सर्वाधिक अंग्रेजी समानार्थक शब्द 'ऐसे' है। अंग्रेजी में 'ऐसे' Essay का अर्थ है प्रयास। अतः निबन्ध एक प्रयास मात्र है। लेख, रचना, प्रबन्ध सन्दर्भ आदि गद्य-विधाओं में निबन्ध 'ऐसे' शब्द तो नया है परन्तु इसका मूल अर्थ प्राचीन साहित्य में प्राप्य है, किन्तु आज निबन्ध अपने मूल और रूढ़ अर्थों से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। वह अपने सभी समानान्तर पर्यायों के मौलिक तथा परम्परा के अनुसार अर्थों से भी भिन्न तत्त्व रखता है। वास्तव में यह आज लैटिन एग्जीयम, ग्रीक एग्जीयम जिसका अर्थ है निश्चितता पूर्वक परीक्षण करना आदि शब्दों के समानार्थक है। फ्रेञ्च शब्द 'ऐसे' इसका पर्याय है जिसका शाब्दिक अर्थ प्रयत्न, प्रयोग या परीक्षण होता है। स्पष्ट ही 'ऐसे' और 'निबन्ध' के शब्दार्थ में कोई समानता नहीं है—ऐसे शब्द के अर्थ से सङ्गठन और सम्बद्धता की ध्वनि नहीं निकलती है जो हिन्दी निबन्ध की प्रधान विशिष्टता है।

निबन्ध की विशिष्ट परिभाषाएँ दी जारही हैं—

जानसन— निबन्ध मस्तिष्क की सहसा उठी हुई अनियन्त्रित, विशृङ्खल, उन्मुक्त कल्पनाशक्ति का परिणाम है। विशृङ्खल, अव्यवस्थित अवतरण जो व्यवस्था से रहित एवं नियन्त्रण के परे रहता है।

मरे— निबन्ध वह रचना है जो सामान्य विस्तार वाली होती है और जो किसी विषय या विषय की शाखा पर की जाती है।

सैरियट—निबन्ध लेखक की कठिन परीक्षा है।

इस प्रकार क्षेमचन्द्र 'सुमन' के शब्दों में निबन्ध गद्य-काव्य की वह विधा है जिसमें कि लेखक एक सीमित आकार में इस विविध रूप जगत् के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है।

मानटेन— वह निबन्ध को ऐसा प्रयत्न मानता था जिससे अपनी आत्मा को दूसरों तक पहुँचाया जा सके। वह स्वयं अपने निबन्धों का विषय था। उसके निबन्धों में उसकी परिभाषा के अनुकूल वह सब कुछ है किन्तु इस सबसे ऊपर वह स्वयं है। यही स्वयं वैयक्तिकता उसके निबन्धों की प्रधान विशेषता भी है। मानटेन की परिभाषा प्रारम्भिक निबन्धों के स्वरूप-विशेष तथा शैलीगत विशिष्टताओं का उद्घाटन अवश्य करती है, किन्तु वर्तमान निबन्ध के स्वरूप ज्ञान के लिए वह उपयुक्त नहीं है।

निबन्ध में व्यक्तित्व तथा विषय का मिश्रण होना चाहिए। इस सम्बन्ध में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' की

चिन्तामणि का निवेदन उल्लेखनीय है—

"इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है! बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।"

इस प्रकार अन्त में 'बाबू गुलाबराय' के ग्रन्थ 'काव्य के रूप' से परिभाषा उद्धृत की जारही है—

"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते है जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सङ्गति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निबन्ध के निम्नलिखित तत्त्व हो सकते हैं।

१. **संक्षिप्तता**—यह निबन्ध का मुख्य लक्षण है। कई परिभाषाओं में सीमित आकार की गद्य-रचना का उल्लेख हो चुका है।

२. **व्यक्तित्व की छाप**—निजीपन और व्यक्तित्व की छाप निबन्ध का विशिष्ट गुण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में यह विशेषता है। इधर द्विवेदी जी के निबन्ध इस कोटि में आते हैं।

३. **अपने में पूर्ण** निबन्ध चाहे छोटा हो पर विचार की दृष्टि से वह पूर्ण होता है। आकार में छोटा सा निबन्ध भी विचार की दृष्टि से पूर्ण होना चाहिए। प्रत्येक तथ्य उसमें सुव्यवस्थित ढङ्ग से रहता है।

४. **सुसम्बद्धता**—प्रत्येक लेख में विचारों को किसी केन्द्रीय विचार से सम्बद्ध रहना चाहिये। सामग्री का सङ्कलन तथा सुसम्बद्ध रूप में उन्हें व्यवस्थित रखना भी निबन्ध का विशिष्ट गुण है।

५. **सरलता तथा सजीवता**—वैसे सरलता सापेक्षिक शब्द है, फिर भी यदि लेखक ने अपने विचारों को सरल ढङ्ग से नहीं रखा है तो पाठकों को उससे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

—विष्णुपुरी, अलीगढ़।

(पृष्ठ ६८ का शेषांश)

रचना अमुक लेखक की है। इसे ही हम 'व्यक्तित्व-मुद्रण' कह सकते हैं। उत्तम शैली में लेखक के व्यक्तित्व की छाप होती है।

शैली के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं—सादी और अलंकृत, हलकी और गम्भीर, शुष्क और रोचक, मधुर और ओजस्वी, संवादात्मक और विवरणात्मक, अर्थग्राहिणी और बिम्बग्राहिणी।

शैली विषयानुरूप होनी चाहिए। उपन्यास और कहानी के लिए साधारणतया हल्की, काव्य के लिए अलंकृत, भाषण के लिए ओजस्वी और दर्शन के लिए गम्भीर शैली का प्रयोग किया जाता है।

आज नित-नई शैलियों का कहानी में प्रयोग किया जा रहा है। कितनी ही प्राचीन शैलियों का उद्धार किया गया है और कितनी ही नवीन शैलियाँ बनाई गयी हैं। यथा—अन्य पुरुष शैली, प्रथम पुरुष शैली, पत्र-शैली, डायरी-शैली आदि।

कहानी कहने का माध्यम भाषा होती है। भाषा ही कहानी को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास ले जाती है। अतः भाषा का सरल, स्पष्ट और प्रभावशील होना बहुत आवश्यक है नहीं तो कहानी कहानीकार की ही सम्पत्ति बनकर रह जायगी। भाषा लिखते समय पात्रों की स्थिति का भी ध्यान रखना चाहिए। देश और काल के विरुद्ध भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

कहानी में भावावेग, संवेदना, अलौकिकता और हास्य को भी यथोचित स्थान मिलता है। परन्तु इन सबका कब, कहाँ और कैसे प्रयोग किया जाय, इसका निर्णय प्रत्येक कहानीकार को स्वयं ही करना होता है और इसी पर उसकी कला का उत्कर्ष निर्भर रहता है।

—गवर्नमेंट कालेज, डूँगरपुर (राज०)

निबन्ध और गद्यकाव्य

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

प्रमुखतः साहित्य-तरुवर के तीन ही स्कन्ध हैं— (१) कविता, (२) कहानी, (३) निबन्ध। शेष इन्हीं के विस्तार और सांकर्य हैं। 'निबन्ध' शब्द के मूल में संस्कृत भाषा की बन्ध धातु है जिसका अर्थ बाँधना है। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में लिखा भी है— "बन्ध बन्धने" (पाणिनि, अष्टाध्यायी, धातु पाठ १५०९)। 'नि' एक उपसर्गात्मक अव्यय है जो 'बहुत' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस तरह 'निबन्ध' शब्द का धातुगत वाच्यार्थ हुआ 'बहुत बँधा हुआ अर्थात् अच्छी तरह कसा हुआ'।

प्राचीन साहित्य के अवलोकन से प्रतीत होता है कि किसी भी प्रकार की सुनियोजित रचना निबन्ध कहाती थी। हिन्दी-भाषा की ग्रन्थ-रचना के लिए महात्मा तुलसीदासजी ने 'भाषा निबन्ध' शब्द का प्रयोग किया है—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा—
भाषा-निबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥[1]
—(रामच०, बालकाण्ड, श्लोक ७)

हिन्दी साहित्य में आज इस 'निबन्ध' शब्द के अर्थ में संकोचन होगया है। गद्य-साहित्य के क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की विधा का नाम आज 'निबन्ध' के अन्तर्गत आता है। हिन्दी में निबन्ध शब्द का प्रयोग अंग्रेजी 'ऐसे' शब्द के पर्याय के रूप में समझना चाहिए। जो वस्तु कस कर बँध जाती है वह आकार में छोटी हो जाती है। अर्थ की दृष्टि से अंग्रेजी 'ऐसे' और हिन्दी 'निबन्ध' शब्द समानान्तर ही हैं। अंग्रेजी भाषा में 'ऐसे' का अर्थ है—"An Essay is a short composition on any particular subject." (Blackie's Compact Etymological Dictionary)

'ऐसे' शब्द का सामान्य अर्थ है 'अभीष्ट विषय के निरूपण का प्रयास'। बेकन महोदय 'निबन्ध' की परिभाषा करते समय कहते हैं—'निबन्ध मस्तिष्क का बिखरा हुआ विचार है' (An Essay is the loose sally of the mind) बिखरे हुए विचार से तात्पर्य यह नहीं कि विचारों में क्रम तथा शृङ्खलाबद्धता नहीं होती। तात्पर्य यह है कि निबन्ध में निबन्धकार अपने विचार प्रकट करने में स्वतन्त्र है। एक विषय पर यदि चार निबन्धकार अपना-अपना निबन्ध लिखेंगे तो उनकी अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ होंगी। वे एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखेंगे। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ेगा और किसी का मन किसी पर। इसीलिए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'निबन्ध' के सम्बन्ध में लिखा है कि 'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।'"[1] निबन्धकार अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार विषय की विभिन्न सूत्र शाखाओं पर स्वतन्त्र गति से विचरण करता है। यही उसकी अपनी अर्थ सम्बन्धी विशेषता है। इसी कारण निबन्ध को व्यक्ति प्रधान रचना कहा गया है।

मान लीजिए कि एक निबन्ध लेखक करुण प्रकृति का है और दूसरा स्वभाव से हँसोड़ है तो दोनों निबन्धकार एक निर्दिष्ट विषय पर अपने स्वभाव की भिन्नता के कारण दो प्रकार के निबन्ध लिखेंगे। करुण प्रकृति के लेखक की विवेकशील बुद्धि और भावात्मक हृदय

---

[1] अब्ज हिन्दी में निबन्ध कहने से 'रामचरितमानस' जैसे प्रबन्ध काव्यों का बोध नहीं होगा। अब 'निबन्ध' शब्द में संकोचनमय अर्थ-परिवर्तन होगया है।

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, सं० २००६ वि०

विषय के अर्थरूपी सूत्र को पकड़े हुए गम्भीर वेदना की अनुभूति के साथ करुण स्थलों की ओर झुक जाएगा और उसके निबन्ध में करुणा का प्राधान्य रहेगा। किन्तु हँसोड़ निबन्धकार विषय के पतले अर्थ सूत्र को पकड़े हुए ऐसे हास्यमय पक्षों की ओर झुकेगा कि उनके वर्णनों को पढ़कर पाठक हँसे बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार 'निबन्ध' लेखक की व्यक्तिगत मानसिक वृत्तियों का भी परिचायक है। इसीलिए इस विधा को व्यक्ति प्रधान रचना बताया गया है।

हिन्दी में निबन्ध के समानान्तर चलने वाला एक शब्द और है, वह है 'प्रबन्ध'। इस 'प्रबन्ध' शब्द से हमारा तात्पर्य गद्यात्मक विधा से है। कविता के क्षेत्र में बन्ध की दृष्टि से 'प्रबन्ध काव्य' एक भिन्न विधा है। उसके मूल में 'कथा' तत्त्व का होना अनिवार्य है। गद्यात्मक विधा वाला 'प्रबन्ध'। 'प्रबन्ध काव्य' से बिलकुल भिन्न वस्तु है। निबन्ध और प्रबन्ध वास्तव में भाई-भाई हैं। गद्य के क्षेत्र में 'निबन्ध' यदि व्यक्ति प्रधान रचना है तो 'प्रबन्ध' विषय-प्रधान रचना है। प्रबन्ध का स्रष्टा विषय से पूर्णरूपेण चिपटा रहता है। प्रबन्धकार अपनी सर्जना में अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी रहता है। प्रबन्ध -लेखक पूर्ण रूपेण अपना मस्तिष्क विषय के वर्गीकरण और उसके शुद्ध विश्लेषण में ही लगाता है। इस दृष्टि से रिसर्च की थीसिसें निश्चित रूप से प्रबन्ध की कोटि में आएँगीं निबन्ध की कोटि में नहीं। कारण यह है कि शोध-ग्रन्थ लिखने वाला अनुसन्धाता घटना तथा तथ्यों के सङ्कलन एवं व्याख्या से सम्बन्ध रखता है। तथ्यों के संयोजन तथा व्याख्या से नूतन उपलब्धि करना अथवा अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण करना ही अनुसन्धान कहाता है। 'थीसिसों' को जो लोग 'शोध-निबन्ध' कहते हैं, वे वास्तव में बहुत सोच-विचार कर शब्द का प्रयोग नहीं करते। उन्हें 'शोध-प्रबन्ध' कहना ही ठीक है। आलोचना तो वास्तव में निबन्ध ही है क्योंकि इसमें अन्तर्मुखीन प्रवृत्ति कुछ न कुछ अवश्य रहती है, परन्तु प्रबन्ध में बहिर्वृत्ति प्रधान हो जाती है।

यदि हम विषय सामग्री और अभिव्यञ्जन शैली को दृष्टि पथ में रखते हुए अँगरेजी के 'ऐसेज' और हिन्दी के 'निबन्धों' की तुलना करने बैठें तो दोनों में अन्तर मिलता है। अँगरेजी के 'ऐसेज' में निबन्ध-लेखक की वैयक्तिकता की प्रधानता और प्रस्तुत विषय की गौणता रहती है। उनमें पाठक का ध्यान विषय वस्तु के स्थान पर लेखक की शैली की ओर ही अधिक जाता है, अँगरेजी के 'ऐसेज' में लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव का। ऐसे निबन्धकारों में सर्व श्री प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट तथा बाबू गुलाबरायजी का नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय है। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र आदि हिन्दी के ऐसे निबन्धकार हैं जिनके निबन्धों का स्वरूप भिन्न प्रकार का है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र के कुछ ही निबन्ध ऐसे हैं जिनमें अँगरेजी साहित्य के 'ऐसेज' के से तत्व यत्र-तत्र झलक मार जाते हैं।

'हिन्दी-निबन्धों का स्वरूप वास्तव में शुद्ध निबन्ध और प्रबन्ध के तत्वों की समन्वयात्मकता लिए हुए है। अँगरेजी निबन्ध वास्तव में अगूढ़ तथा अव्यवस्थित रचना है परन्तु हिन्दी निबन्ध वैयक्तिकता के साथ-साथ विषय प्रतिपादन की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान देते हैं। यद्यपि जायसी, सूर और तुलसी पर लिखी हुई आचार्य शुक्लजी की आलोचनात्मक सामग्री 'प्रबन्ध' ही कही जाएगी, परन्तु आचार्य शुक्लजी ने उसे 'निबन्ध' ही कहा है। 'चिन्तामणि' के बहुत से लेख हमारे विचार से 'प्रबन्ध' कहलाने के अधिकारी हैं, किन्तु शुक्लजी उन्हें 'निबन्ध' ही कहते हैं। आचार्य शुक्लजी के मतानुसार 'निबन्ध' में भाषा विधान और अर्थविधान की चुस्ती (कसाव) आवश्यक है। 'चिन्तामणि' के आदि में लिखे हुए 'निवेदन' को पढ़कर यह विदित हो जाता है कि शुक्लजी निबन्ध में बुद्धि और हृदय—दोनों—का ही सामञ्जस्य मानते हैं। उन निबन्धों की यात्रा में बुद्धि हृदय को भी साथ लेकर चली है। यदि हम 'निबन्ध' के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करना चाहते हैं। और अपने को अधिक वैज्ञानिक सिद्ध करनी चाहते हैं

तो निबन्ध में हृदय पक्ष का ही प्राधान्य मानना पड़ेगा। और कहना पड़ेगा कि निबंध रचना में लेखक का हृदय यात्रा करता है। किन्तु बुद्धि को भी साथ लेकर। यदि बुद्धि का प्राधान्य हो गया तो हम उसे 'विचारात्मक निबन्ध' कहने लगते हैं और यदि हृदय की प्रमुखता है तो उसे भावात्मक निबन्ध कहते हैं। भावात्मक निबन्धों में धारा, तरङ्ग, विक्षेप आदि की रीति अपनायी जाती है। प्रलाप शैली के निबन्ध भावात्मक निबन्धों की कोटि में ही आते हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि भावात्मक निबंध और गद्य-काव्य में क्या अन्तर है? भावात्मकता तथा रसात्मकता के कारण ही उसकी संज्ञा 'काव्य' हुई है। देखा जाए तो भावात्मक निबन्ध और गद्य-काव्य—दोनों का ही सम्बन्ध लेखक के हृदय पक्ष (भावात्मकता) से है तो वह कौन सा तत्त्व है जिसके आधार पर दोनों गद्यात्मक विधाएँ पृथक-पृथक सिद्ध की जा सकती हैं?

'कवि' शब्द का एक अर्थ 'मनीषी' भी है। वैदिक साहित्य में इसी अर्थ में 'कवि' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१] अतः कवि की कृति चाहे पद्यात्मक हो और चाहे गद्यात्मक; वह 'काव्य' कहलाने की अधिकारिणी है। अतः 'काव्य' के विस्तृत तथा सामान्य अर्थ में पद्य और गद्य दोनों का ही स्थान है। इस तरह हम प्रत्येक गद्य को 'काव्य' कह सकते हैं। परन्तु 'गद्य काव्य' शब्द आज एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'गद्य काव्य' वास्तव में गद्य की एक विशिष्ट विधा है जो साधारणतया भावात्मक निबन्धों के समकक्ष आसन जमाती है। यद्यपि 'गद्य काव्यों' और 'भावात्मक निबन्धों' में भावना का प्राधान्य पाया जाता है तथापि दोनों में अन्तर अवश्य है। भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्यों में लेखक की मनोवृन्तिमयी वैयक्तिकता तथा एक तथ्यपरक भावोद्रेक अधिक पाया जाता है। 'निबन्ध' में जहाँ एक प्रमुख भाव की अन्तवर्तिनी कई भावनाएँ अभिव्यक्त होती हैं, वहाँ 'गद्य काव्य' में एक भाव के अन्तर्गत एक ही केन्द्रीय भावना को अन्योक्ति, उपमान, रूपक, प्रतीक आदि के माध्यम से अभिव्यक्त एवं पल्लवित किया जाता है। निबन्ध-लेखक अपनी भावाभिव्यक्ति में स्वतन्त्र होकर इधर-उधर भी विचरण कर सकता है किन्तु 'गद्य काव्य' का लेखक एक निश्चित ध्येय अथवा कहिए कि एक निश्चित भावना को ही पुष्ट एवं विस्तृत करता हुआ आगे बढ़ता है।

दूसरे शब्दों में हम 'गद्य काव्य' के स्वरूप को कुछ और स्पष्ट करना चाहें तो यों भी कह सकते हैं कि 'गद्य काव्य' के गद्यात्मक शरीर में 'प्रगीत काव्य' की आत्मा का मधुर स्वर सुनाई पड़ता है। गद्य काव्य की भाषा में भी साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक सरसता तथा सङ्गीतात्मकता होती है। गद्य काव्य में एक ही संवेदना रहती है जैसी कि 'कहानी' में हुआ करती है। भावनातिरेक, एक संवेदना तथा सङ्गीतात्मक भाषा के कारण एक रेखाचित्र भी गद्य काव्य की कोटि में आ सकता है। रेखाचित्र में जब वर्णन की ही प्रधानता रहती है और भावना तथा सङ्गीतात्मक भाषा के दर्शन नहीं होते तब वह कृति 'रेखाचित्र' अर्थात् शुद्ध 'रेखाचित्र' कहाती है। हिन्दी में प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने 'पीपल', 'खँडहर' और 'मिट्टी के पुतले' नाम के रेखाचित्रों में कुछ कल्पना और मधुर भावना का पुट दिया है। अतः ये 'गद्य काव्य' की कोटि में भी आजाते हैं।

—८/७ हरिनगर, अलीगढ़।

[१] "कविर्मनीषी परिभूःस्वयंभूः"—श्रुतिः

रेखाचित्र और संस्मरण

डा० विश्वनाथ शुक्ल

आज हिन्दी में प्रचुर मात्रा में 'रेखाचित्र' और 'संस्मरण' साहित्य विद्यमान है और अनुदिन प्रवर्धमान एवं विकसित हो रहा है। हिन्दी में उच्चकोटि के अनेक रेखाचित्र-लेखक एवं संस्मरण-लेखक हो गये हैं, मौजूद हैं और उत्पन्न हो रहे हैं, जिनके द्वारा हिन्दी में पश्चिम से आई हुई इन दो साहित्य-विधाओं का प्रवर्त्तन ही नहीं, अपितु मौलिक संस्कार और परिमार्जन भी हुआ है। इस कला में पश्चिम के समस्त उपकरणों और तत्त्वों को जहाँ हमारे साहित्यकार ने आत्मसात् किया है, वहाँ उसने इस कला को अपनी कर्म-भूमि, सभ्यता, संस्कृति एवं सर्वोपरि स्वानुभूति के रङ्ग में भी रँग दिया है, जो स्वाभाविक ही है। अब समय आ गया है कि इस कला के रूप-विधान एवं तत्त्वों पर कुछ शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवेचन किया जाय। पहले 'रेखाचित्र' को लीजिए।

रेखाचित्र—हिन्दी में 'रेखाचित्र' शब्द एक गढ़ा हुआ यौगिक शब्द है, जो पृथक्-पृथक् दो शब्दों—'रेखा' और 'चित्र' से बना लिया गया है। संस्कृत अथवा प्राचीन हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट साहित्यिक-रचना के अर्थ में 'रेखाचित्र' शब्द नहीं मिलता। यह शब्द हमने अंग्रेजी के 'स्केच' शब्द के अनुवाद रूप में स्वीकार किया है और एक नये साहित्य-प्रकार का द्योतन करने के लिए इसका प्रचलन बीसवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ है। किन्तु अंग्रेजी, फ्रेंच, डच आदि पाश्चात्य भाषाओं में 'स्केच' शब्द रूपान्तर से एक विशिष्ट शब्द-शिल्प युक्त निबन्धात्मक, जीवनी जैसी साहित्यिक रचना के अर्थ में ३–४ शताब्दियों पहले से ही व्यवहृत होता आ रहा है। १६६८ ई० में अंग्रेजी के प्रसिद्ध साहित्यकार चार्ल्टन ने एक साहित्यिक रेखाचित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा था, "Where of I have drawn no perfect picture, but only a rude skech." "मैंने (उस व्यक्ति विशेष वस्तु अथवा घटना का) पूर्ण चित्र न खींचकर एक स्थूल रेखाचित्र दे दिया है" चार्लटन के उक्त कथन से इतना तो स्पष्ट ही है कि 'स्केच' शब्द चित्र-कला सम्बन्धी शब्द है और साहित्य में उसका प्रयोग लाक्षणिक है। अपने अभिधेय अर्थ में स्केच शब्द उस स्थूल रेखा-निर्मित चित्र का नाम है, जिसमें किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की बाहरी आकृति-रेखाएं एवं उसके विशिष्ट-विशिष्ट लक्षण, बिना सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाए हुए व्यक्त किये जाते हैं। चित्रकला की शास्त्रीय शब्दावली में स्केच वास्तव में वह खाका या ढाँचा है, जिसको पूर्ण, अभीष्ट चित्र का आधार बनाया जाता है। पेंसिल अथवा लेखनी से क्षिप्रहस्तता-पूर्वक किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का जो साधारण सा चित्र बना दिया जाता है वही 'स्केच' है। कालान्तर में 'स्केच' चित्रों का भी पृथक महत्व स्वीकार किया गया और उनको भी कलाकृतियों में स्थान दिया गया। जब चित्रकला सम्बन्धी इस शब्द को लाक्षणिकता से हम साहित्य में प्रयोग करते हैं तो इससे एक संक्षिप्त, मनोरञ्जक, चुटीली एवं व्यंग्यात्मक गद्य-रचना का बोध होता है। जिसका प्राण है चित्रोपम बिम्बग्राहिता। इस रचना में वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना की सर्वाधिक प्रमुख विशेषताओं और महत्वपूर्ण बातों को, (अथवा जिन्हें लेखक प्रमुखता देना चाहता है) एक विशिष्ट शब्द-शिल्प के द्वारा उभार कर रख दिया जाता है। उन मोटे-मोटे, किन्तु ध्वन्यात्मक शब्द-सूत्रों से हम वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना के न केवल बाह्य की ही, अपितु अन्तस की भी एक झाँकी कर लेते हैं। एक बार चित्रकार के चित्र में बाह्य स्थूलता मात्र रह जा सकती है, किन्तु सफल शब्द-चित्रकार के शब्द-चित्र में नहीं। वह अपने सूक्ष्म व्यंग्यार्थ प्रतिपादक शब्दोपकरण से कहीं अधिक मर्म-

भेदी चोट करता है। कारण स्पष्ट है कि काव्यकला, चित्रकला की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म कला है। हाँ, शैली की दृष्टि से रेखाचित्र-लेखक का कार्य बहुत कुछ चित्रकार के कार्य के समान है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी तूलिका के विविध एवं विचित्र, साथ ही कुशल सञ्चालन से मनचाही रेखायें खींचकर, उन्हें सरल, वक्र, वर्तुल करके, रङ्गों के उपयुक्त मिश्रणमय प्रयोग से स्थूलता और पारदर्शिता आदि व्यक्त करता है ठीक उसी प्रकार साहित्यकार रेखाचित्र में उपयुक्ततम शब्द चयन, व्यंग्यात्मक उक्तिवैचित्र्य और सुग्रन्थित, संक्षिप्त काव्य-विन्यास से वर्ण्य वस्तु का ऐसा वर्णन करता है कि पाठक के नेत्रों के सामने उस वस्तु का बिम्ब ही उपस्थित हो जाता है। संक्षेप में "रेखाचित्र" शब्दों के माध्यम से की गई फोटोग्राफी है। अँग्रेजी में ऐसे शब्दचित्रकार को स्केचिस्ट कहते हैं। जान अर्ले एक प्रसिद्ध स्केचिस्ट हुआ है जिसका स्केचे 'ए प्लेन कण्ट्री फैलो' बहुत प्रख्यात है। पाश्चात्य साहित्य में स्केच की जो परिकल्पना है (Conception) वह संक्षेप में निम्नलिखित सूत्रों में समाविष्ट की जा सकती है।

१—स्केच एक छोटा नाटक, कहानी अथवा चरित्र-चित्रण है।

२—स्केच किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि विषय को लेकर लिखी हुई हलकी फुलकी साहित्यिक रचना है।

३—स्केच प्रायः हास्य-व्यंग्य प्रधान होता है।

पश्चिम में छोटे-छोटे नाटकीय रेखाचित्रों का बहुत प्रचार रहा है और वहाँ वैराइटी शो में उनका प्रदर्शन भी खूब होता है। किन्तु देशकाल के वैविध्य से रेखाचित्र को केवल इन्हीं सूत्रों में आबद्ध नहीं किया जा सकता। उसके शिल्प एवं उद्देश्य में पर्याप्त अन्तर हो गया है और उसमें स्थानीय विशेषताओं का समावेश भी हो गया है। 'रेखाचित्र' कहानी और निबन्ध के बीच की वस्तु है, किन्तु तात्विक दृष्टि से यह न कहानी है न निबन्ध। इसका अपना पृथक ही व्यक्तित्व तथा अस्तित्व है। अंग्रेजी में जहाँ स्केच के द्वारा एक हास्य-प्रधान साहित्यिक रचना का विशेष बोध होता है, वहाँ हिन्दी रेखाचित्र में यह आवश्यक नहीं कि वह हास्यप्रधान ही हो। हिन्दी में श्रीमती महादेवी वर्मा के रेखाचित्र (जो 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में संस्मरणों के साथ घुल मिल गये हैं) अपनी कारुणिक गम्भीरता में बेजोड़ हैं। एक उदाहरण देखिये—

"इतने वर्ष बीत जाने पर भी मेरी स्मृति अतीत के दिन प्रतिदिन गाढे होने वाले धुँधलेपन ने एक रेखा खींचकर उस करुण-कोमल मुख को मेरे सामने अङ्कित ही नहीं, सजीव भी कर देती है।

छोटे गोल मुख की तुलना में कुछ अधिक चौड़ा लगने वाला, पर दो काली रूखी लटों से सीमित ललाट, बचपन और प्रौढ़ता को एक साथ अपने भीतर बन्द कर लेने का प्रयास सा करती हुई, लम्बी बरौनियों वाली भारी पलकें और उनकी छाया में डबडबाती हुई सी आँखें, उस छोटे मुख के लिए भी कुछ छोटी सीधी सी नाक और मानों अपने ऊपर छपी हुई हँसी से विस्मित होकर कुछ खुले रहने वाले ओठ, समय के प्रवाह से फीके भर हो सके हैं, धुल नहीं सके।"

अतीत के चलचित्र, सं० २००३, पृष्ठ १६।

प्रस्तुत रेखाचित्र में जहाँ अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, और विलक्षण अभिव्यञ्जना शक्ति से लेखिका ने एक स्त्री मूर्ति का सजीव चित्रण किया है, वहाँ उसके अन्तराल में एक करुण-गाम्भीर्य की अजस्र धारा भी प्रवाहित होते हुए स्पष्ट दीखती है। हाँ, रेखाचित्र के हास्य व्यंग्य प्रधान होने का प्रकृत गुण भी हिन्दी में ज्यों के त्यों सुरक्षित ही नहीं, कहीं अधिक चुटीला होकर सामने आया है। श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा वर्तमान युग के कवि सम्मेलन का एक और अत्यन्त मार्मिक रेखाचित्र देखिये।—

'सजे हाल, ऊँचे मंच, माला विभूषित सभापति मेरी स्मृति में उदय हो आये। उनके इधर उधर देवदूतों के समान विराजमान कविगण रूप और मूल्य दोनों में अपूर्व थे। कोई फर्स्ट-क्लास का किराया लेकर थर्ड की शोभा बढ़ाता हुआ आया था। कोई अपने कार्य-वश पहले से ही उस नगर में उपस्थित था पर इतनी फीस चाहता था जिसमें आना जाना और आव-

श्यक कार्य सम्पन्न होने के उपरान्त भी कुछ बच सके। किसी ने अपने काव्य की महानता बढ़ाने के लिए ही अपनी गले बाजी का चौगुना मूल्य निश्चित किया था।

मूल्य से जो महत्ता नहीं व्यक्त हो सकी, वह वेष-भूषा में प्रत्यक्ष थी। किसी के नए सिले सूट की अँगरेजियत, ताम्बूल राग की स्वदेशीयता में रञ्जित होकर निखर उठी थी। किसी का चीनांशुक का लहराता हुआ भारतीय परिधान सिगरेट की धूमलेखाओं में उलझकर रहस्यमय होरहा था। किसी के सिर के खड़े बाल अमामी से संगमूसा के चमकीले फर्श की भ्रान्ति उत्पन्न करते थे। किसी की सिल्की शेम्पू से धुली सीधी लटों का कृत्रिम कुंचन विधाता पर मनुष्य की विजय की घोषणा करता था। कुछ प्राचीनतावादियों की कभी निर्निमेष खुली आँखें और कभी मीलित पलकें, प्रकट करती थीं कि काव्य-रस में विश्वास न होने के कारण उन्हें विजया से सहायता माँगनी पड़ी है।

—स्मृति की रेखाएँ, सं० २०००, पृष्ठ ९४–९५

उक्त चित्र में जहाँ हास्य की अवतारणा स्पष्ट है वहाँ हमारे आज के तथा कथित कवि-वर्ग की मनोवृत्ति एवं आचरण की भी तीक्ष्ण शब्दों में व्यंग्यात्मक आलोचना ध्वनित होती है। समाज की अनेक विरूपताओं का चित्रण अनेक लेखकों ने रेखाचित्र के माध्यम से किया है। इन शब्द-बाणों का आघात इतना मर्म-भेदी होता है कि शिकार एक बारगी ही तिलमिला जाता है। राजनीतिक क्षेत्र में तो पश्चिम में रेखाचित्र को एक अत्यन्त सबल शस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है। भारतवर्ष में भी अब यह एक प्रभावशाली माध्यम होता जारहा है। डा० रामविलास शर्मा द्वारा प्रस्तुत 'डलेस की भारत सम्बन्धी रिपोर्ट' इस प्रकार के रेखाचित्र का एक नमूना है—

"हिन्दुस्तान में एक देवता की पूजा की जाती है जिसका नाम हनुमान है। लोग इसकी मूरत को लाल रङ्ग से रङ्ग देते हैं। इससे जाहिर है कि हनुमान भी कम्युनिस्ट था। सुना है कि उसने राम का जासूस बन कर लङ्का में आग लगा दी थी जो इस बात का सबूत है कि कम्युनिस्ट बहुत पहले से तोड़ फोड़ और आग लगाने का काम करते आए हैं। जहाँ जहाँ हनुमान की मूरत होती हैं वहाँ वहाँ लाल झण्डा भी लगा रहता है। उसके कम्युनिस्ट होने का इससे अच्छा सबूत और क्या होगा।"

—विराम चिह्न : डलेस की भारत सम्बन्धी रिपोर्ट, १९५७, पृष्ठ–९।

प्रस्तुत उद्धरण में लेखक ने अपनी सूझ बूझ से एक ऐसे चुटीले राजनीतिक व्यंग्य की सृष्टि की है जो अपने लक्ष्य को सफलता से बींध देता है। घृणा एवं आक्रोश का व्यक्तीकरण भी किसी किसी रेखाचित्र का उद्देश्य होता है और यह उसका एक सुन्दर उदाहरण है।

रेखाचित्र लेखन के लिए कलाकार को सतत अभ्यास से एक विशेष शक्ति का अर्जन करना होता है। अच्छा रेखाचित्र वही कहलायेगा जो चित्रित वस्तु को हमारे सामने सचाई से प्रतिच्छायित कर दे। इस गुण की प्राप्ति के लिए कलाकार की अन्तर्बाह्य दृष्टियाँ पूरी तरह से जागरूक होनी चाहिए। प्रकृति, मानव किंबहुना समस्त जड़ चेतन जगत् को गहराई से देखने की उसकी दृष्टि जितनी ही अनाविल एवं अतन्द्रित होगी, रेखाचित्र उतना ही जीवन्त होगा। साहित्य का वर्ण्य-विषय असीम है; अतः रेखाचित्र के विषय को केवल कुछ मानव प्राणियों के चित्रण, प्रकृतिचित्रण अथवा कुछ विषयों या घटनाओं के चित्रण में सीमित नहीं किया जा सकता। यह तो प्रतिभाशाली कलाकार की नवनवोन्मेषशालिनी सर्जन शक्ति पर निर्भर है कि वह किस वस्तु को रेखाचित्र के लिए वरण करता है।

आज हिन्दी में रेखाचित्र लेखन की कला निरन्तर परिमार्जित हो रही है। अनेक कृती कलाकार अपनी प्रौढ़ कृतियों से पहले ही उसके भण्डार की श्रीवृद्धि कर चुके हैं। स्व० पद्मसिंह शर्मा, श्रीराम शर्मा, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी; श्री सुमित्रानन्दन पन्त, महाप्राण निराला, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री भगवती चरण वर्मा, श्री उदयशङ्कर भट्ट, डा० रामविलास शर्मा, डा० शिव-

मङ्गलसिंह 'सुमन', श्री प्रभाकर माचवे आदि साहित्यकार अपने विविध रूप-साहित्य निबन्ध संस्मरण कहानी, उपन्यास, कविता आदि में अनेक अनूठे रेखाचित्र प्रस्तुत कर चुके हैं और आगामी पीढ़ी को प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। यहाँ हमने विशेष कर गद्य में लिखित रेखाचित्र की ओर ही इङ्गित किया है। किन्तु यदि हास्य, व्यंग्य, नाटकीयता और एक विषय-प्रामुख्य को ही रेखाचित्र का रूप-विधायक लक्षण मानें तो सम्भवत: समस्त देश कालों में पद्य में भी उसके उदाहरण उपलब्ध हो जायेंगे। उदारण के लिए रामचरित मानस में कामातुर नारद के मोहभंग का जो प्रसङ्ग है, उसमें तुलसी द्वारा नारद का चित्र देखिये :—

मर्कट बदन भयङ्कर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥

× × × ×

जिहि दिसि बैठे नारद फूली।
सो दिसि तेहिं न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं।
देखि दशा हर गन मुसुकाहीं॥

'नारद' में रूप, मनःस्थिति और एक विषय-विशेष के नाटकीय मनोरञ्जकता के साथ निरूपण की दृष्टि से मानस का यह चित्र किसी भी आधुनिक रेखाचित्र से ऊना नहीं बैठता। किन्तु हमें यह बात स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि अपने आधुनिकतम अर्थ और एक विशिष्ट साहित्यिक-विधा के रूप में 'स्केच' या 'रेखाचित्र' पश्चिम की देन है।

संस्मरण— जहाँ रेखाचित्र में वस्तुपरक (Objective) दृष्टिकोण प्रधान होता है वहाँ संस्मरण में आत्मपरक (Subjective) दृष्टिकोण विशेष उभरा हुआ रहता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि रेखाचित्र नितान्त वस्तुपरक और संस्मरण पूर्णतया आत्मपरक हो। अपितु दोनों ही दोनों प्रकार के हो सकते हैं। अन्तर केवल मात्रा का है। कभी-कभी रेखाचित्र और संस्मरण इतने गुंथे हुए रहते हैं कि उनको पृथक-पृथक करना सम्भव नहीं होता। बल्कि अधिकांशतः ये दोनों साहित्यिक रचनाएँ एक दूसरी के साथ ही लिपटी-चिपटी और एक दूसरे की पूरक रूप में पाई जाती हैं। कारण स्पष्ट है कि साहित्यकार का व्यक्तित्व उसकी कृति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में झाँके बिना नहीं रहता। अपने व्यापक और विशालतम अर्थ में समस्त साहित्य ही साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत एक संस्मरण है।

समस्त जड़-चेतन अथवा अध्यात्म-जगत् की जो-जो अनुभूतियाँ उसके मानस पटल पर स्मृति के माध्यम से अङ्कित होती हैं, वही तो साहित्य है। किन्तु हमें इतने व्यापक अर्थों में जाने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान की एक नई साहित्यिक-विधा के रूप में जिस 'संस्मरण' साहित्य से हमारा तात्पर्य है, उसका प्रेरणा स्रोत भी पश्चिमी साहित्य है। अंग्रेजी में संस्मरण के लिए दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'मेमॉइर' एवं 'रेमिनिसेंसेज' किन्तु इनमें थोड़ा सा तात्त्विक भेद है। मेमॉइर अपेक्षाकृत अधिक वस्तुपरक संस्मरण है, जबकि रेमिनिसेंसेज में लेखक अपने व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों को कहीं अधिक स्पष्टतया व्यक्त करता है। अंग्रेजी में 'मेमॉइर' घटनाओं के आधिकारिक विवरण एवं ऐतिहासिक तथ्यों के व्यक्तिगत ज्ञान पर आधारित विवरण को भी कहते हैं। हिन्दी में इन दोनों के लिए एक ही शब्द है 'संस्मरण', जो अधिक आत्मपरकता द्योतक शब्द है। संस्मरण 'सम्यक् स्मरण' है। सम्यक् से तात्पर्य है आत्मीयतापूर्वक, गम्भीरता से। लेखक जो स्वयं देख सुनकर अनुभव करता है संस्मरण में उसी की एक परम संवेदनात्मक अनुभूति रहती है। इस प्रकार संस्मरण व्यापक अर्थों में आत्मकथा के अन्तर्गत आ जाता है, किन्तु संस्मरण शुद्ध आत्मकथा नहीं है। इसमें अन्य घटनाओं, व्यक्तियों, वस्तुओं और स्थानों का भी बहुत महत्व है। आत्मकथा में जहाँ एक मात्र प्राधान्य स्वयं आत्मकथा लेखक का ही है, और अन्य समस्त व्यक्ति वस्तु एवं घटनाएँ केवल उसके जीवन क्रम को प्रभावित करने वाली शक्तियों के रूप में ही उल्लिखित होती हैं, वहाँ संस्मरण में तत् व्यक्तियों, वस्तुओं एवं घटनाओं का भी पृथक् महत्त्व रहता है। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि संस्मरण लेखक स्थूल इतिहास लेखक नहीं है। इतिहासकार के स्थूल वस्तुपरक दृष्टिकोण से उस

(शेष पृष्ठ ८४ पर देखिये)

हिन्दी साहित्य में रिपोर्ताज का विकास

प्रो० लालमोहर उपाध्याय

सही बात तो यह है कि 'रिपोर्ताज' शब्द अंग्रेजी के 'रिपोर्ट' का पर्यायवाची है। यदि हम रिपोर्ताज को रिपोर्ट का साहित्यिक रूप कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। जैसा कि हम जानते हैं कि रिपोर्ट में यथातथ्य का चित्रण रहता है, ठीक उसी प्रकार रिपोर्ताज भी तथ्य की विशुद्ध भावभूमि पर आधारित है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि "किसी भी घटना का इस विधि से वर्णन करना जिससे पाठक उसके सत्य से प्रभावित हो सके रिपोर्ताज कहलाता है।" पर एक बात अवश्य है कि इसकी कोई एक सीमा नहीं है। जहाँ तक वर्णन का प्रश्न है, वह सीमित भी हो सकता है और वृहद् भी। अतः इसमें कोई शक नहीं कि आकार की दृष्टि से हम इसकी सीमा का निर्धारण नहीं कर सकते हैं। साहित्य की अन्य विधाएँ जो इनसे निकट (कहानी और निबन्ध) हैं उनसे कुछ तुलना करना उपयुक्त होगा।

कहानी और रिपोर्ताज—रिपोर्ताज का सम्बन्ध किसी घटना के एक अङ्ग से है। उसमें किसी घटना का सर्वाङ्गीण वर्णन नहीं होता है। कहानी में भी किसी घटना के एक ही अङ्ग का वर्णन होता है। अतः यह कहानी के निकट बहुत कुछ अंशों में है, पर हाँ इतना होने पर भी इनमें महान अन्तर है। जहाँ कहानी का ध्येय अपने लक्ष्य की ओर तीर की भाँति उन्मुख होता है अर्थात् वह तीर उस लक्ष्य की ओर ही अबाध गति से बढ़ता है। पर रिपोर्ताज के साथ वैसी बात नहीं है। इसमें अनेक घटनाओं का समन्वय होता है। पर एक बात अवश्य है कि इस समन्वय की जड़ में एक ही घटना की प्रमुखता होती है।

निबन्ध और रिपोर्ताज—कलेवर और गठन की दृष्टि से यदि हम देखें तो रिपोर्ताज निबन्ध के बहुत निकट है। निबन्ध में हम देखते हैं कि निबन्धकार द्वारा गागर में सागर भरने का प्रयास रहता है। ठीक यही बात रिपोर्ताज के साथ भी है। रिपोर्ताज में रिपोर्ताज-कार शब्दों के सीमित साधन से भावों के अमित लोक की सर्जना में अहर्निश तैयार रहता है। फिर भी दोनों में अन्तर है। निबन्ध में जहाँ तर्क की प्रधानता रहती है वहाँ इसमें प्रतिपाद्य मुख्य और अभिव्यञ्जना की सरसता गौण होती है। पर हाँ एक बात अवश्य है कि रिपोर्ताज में सरसता, अबाधता तथा भाव-प्रवणता का समावेश रहता है, जैसा कि हम कहानी से साथ पाते हैं।

रिपोर्ताज सम्बन्धी तीन महत्त्वपूर्ण बातें—रिपोर्ताजकार के लिए यह जरूरी है कि विषय का विवरण प्रस्तुत करते समय वह तीन बातों को अपने ध्यान में रखे—

(१) **मनोवैज्ञानिक विश्लेषण**—विवरण प्रस्तुत करते समय रिपोर्ताजकार के लिए यह जरूरी है कि वह जिन घटनाओं का वर्णन तथा पात्रों के चरित्र का चित्रण करे, उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अवश्य हो। इतना ही नहीं उस विश्लेषण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सबल एवं ग्राह्य हो। उसका कर्तव्य है कि जब वह पात्रों की मानसिक गतिविधियों का पूर्णरूपेण विश्लेषण करने लगे तब वह पूर्णतः सजग और सचेष्ट हो।

(२) **पात्रों का चित्रण**—सबसे मार्के की बात यह है कि रिपोर्ताज में आये पात्र चाहे यथार्थ हों या काल्पनिक उनका चित्रण सशक्त और निखरा हुआ हो। सही बात तो यह है कि चित्रण इस तरह सबल एवं पुष्ट हो कि कल्पना भी यथार्थ की तरह लगे।

(३) **वर्ण्य घटना या वस्तु का पूर्ण ज्ञान**—रिपोर्ताजकार के लिए यह आवश्यक है कि वर्ण्य विषय का उसे पूरा ज्ञान हो। जिस तरह एक रिपोर्टर आँखों देखी घटना का वर्णन करता है ठीक यही बात रिपो-

र्ताज के लिए आवश्यक है। निबन्ध, कहानी और रिपोर्ताज में महान् अन्तर हो यही है न कि जहाँ कहानी और निबन्ध में कल्पना से भी काम चल जाता है वहाँ रिपोर्ताज में सत्य और तथ्य की आवश्यकता होती है।

हिन्दी साहित्य में विकास—रेखाचित्र की भाँति रिपोर्ताज का भी जन्म हिन्दी साहित्य में बहुत नया है। यह एक नवीनतम घटनाओं में से है। पिछले १५ वर्षों से ही हिन्दी साहित्य में इसका आविर्भाव हुआ। इसकी प्रेरक शक्तियों में द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाएँ, बङ्गाल का दुर्भिक्ष और आजाद हिन्द फौज का निर्माण आदि घटनाएँ हैं। भारतीय इतिहास ये घटनाएँ अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। लेखकों में की भावनाओं की एक महान भीड़ देने में ये सहायक हैं। इस झकझोर से ही रिपोर्ताज का जन्म हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि रिपोर्ताज के मूल में ये युद्धोत्तर घटनाएँ ही हैं। जहाँ तक इसके विकास का प्रश्न है, अभी वह भविष्य के गर्भ में ही निहित है। फिर भी आज जब हम हिन्दी साहित्य के विकास पर ध्यान देते हैं तो रिपोर्ताज के लेखकों की ओर निगाह बरबस चली जाती है। रिपोर्ताज के लेखकों में मुख्यतः प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, रांगेय राघव, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, हंसराज रहबर आदि उल्लेखनीय हैं।

—पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

(पृष्ठ ८२ का शेष)

का उद्देश्य नितान्त भिन्न है। संस्मरण में उसका कवित्वमय अनुभूतिपूर्ण व्यक्तित्व निरन्तर झाँकता रहता है। इस प्रकार 'संस्मरण' शैली में व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध के अधिक निकट है एक उदाहरण देखिये—

"हमारे सभ्यतादर्पित शिष्ट समाज का काव्यानन्द छिछला और उसका लक्ष्य सस्ता मनोरञ्जन मात्र रहता है इसीसे उसमें सम्मिलित होने वाले की भेदबुद्धि एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयत्न और वैयक्तिक विषमताएँ और अधिक विस्तार पालेती है। एक वह हिंडोला है जिसमें ऊँचाई नीचाई का स्पर्श भी एक आत्मविस्मृति में विश्राम देता है। दूसरा वह दङ्गल का मैदान है जिसका समधरातल भी हारजीत के दांवपेचों के कारण सतर्कता की शान्ति उत्पन्न करता है।"

श्रीमती महादेवी वर्मा स्मृति की रेखाएँ, पृष्ठ ६७।

अपने किसी प्रवास में सत्सङ्ग और भजन मण्डली में आस्वादित किन्हीं सुखद स्मृतियों की तुलना जब लेखिका तथा कथित सभ्य समाज के साहित्यिक समारोहों द्वारा प्राप्त कटु अनुभवों से करती है तो उनका मन बरबस रो उठता है और एक संस्मरण के रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती है।

आज हिन्दी में एक विशाल संस्मरण साहित्य विद्यमान है जो निरन्तर वृद्धिगत हो रहा है। 'यात्रा-साहित्य' भी एक प्रकार से संस्मरण साहित्य के अन्तर्गत आता है और अंग्रेजी के समान हिन्दी में भी यात्रा-साहित्य के सर्जन की ओर प्रबुद्ध साहित्यकार की रुचि बढ़ रही है।

जिस साहित्यिक अनुष्ठान का प्रारम्भ स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा और आचार्य शुक्ल आदि महानुभावों ने किया था उसकी परम्परा अखण्ड और अक्षुण्ण रूप से प्रवर्द्धमान है और उसका भविष्य बहुत ही उज्वल एवं आशाजनक है।

—अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

हिन्दी के ये अनमोल ग्रन्थ

१. हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका : मूल्य ८-००

(ले०—रामपूजन तिवारी)

"........पुस्तक की सुललित शैली तथा विद्वानों जैसी समझाने की पद्धति का ऐसा संयोग है जो सर्वत्र दुर्लभ है। पुस्तक में कुछ ऐसी नवीन बातों का उल्लेख है जिसे हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रथम बार आने का अवसर मिल रहा है।"

—'साहित्य-सन्देश' (जनवरी १९६२)

२. ब्रजबुलि साहित्य : मूल्य ४-००

(ले०—रामपूजन तिवारी)

"पूर्वी प्रदेशों के भक्त कवियों की काव्यभाषा पर प्रथम पुस्तक। इसके प्रकाशन पर अनेकानेक बधाइयाँ आ रही हैं। (वैष्णव-भक्ति में मधुर रस का प्रवेश) नामक परिच्छेद अपनी विशेषता रखता है।"

३. महात्मा गांधी : मूल्य १-२५

(ले०—रवीन्द्रनाथ टैगोर)

आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—'गांधी सम्बन्धी गुरुदेव के लेखों का बहुत ही सुन्दर सङ्कलन है।'

४. गीतांजलि : एक अध्ययन : मूल्य ३-००

(ले०—गुरुदयाल मल्लिक)

विश्वविख्यात 'गीताञ्जलि' पर सरल और सुबोध अध्ययन। हिन्दी के पाठकों के लिए प्रथम बार मूल गुजराती से अनूदित।

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

५. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास : एक अध्ययन—

(ले०—डा० गोविन्दप्रसाद शर्मा शास्त्री)

"नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।"

६. शान्ति निकेतन के वे दिन—

(ले०—एस० आर० दास)

"विश्वभारती के उपकुलपति द्वारा शान्तिनिकेतन में बिताये गये अपने विद्यार्थी जीवन का रोचक संस्मरण।"

७. साहित्य परिशीलन—

(ले०—डा० महेन्द्र भटनागर)

"साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर लिखे गये उपयोगी निबन्धों का संग्रह।"

प्रकाशक—ग्रन्थ-वितान, पटना-४

गृह-पुस्तकालय-योजना

घर बैठे १२ आसान किश्तों में पुस्तकें प्राप्त करें

केवल १२०) में १५४) की पुस्तकें प्राप्त कर अपने घर में गृह-पुस्तकालय की स्थापना कर के राष्ट्रभाषा का प्रचार एवं प्रसार करने के साथ-साथ घर के सभी सदस्यों को सभ्य और सुसंस्कृत नागरिक बनावें।

गृह-पुस्तकालय योजना के अन्तर्गत आपको हर माह प्रकाशित नवीन पुस्तकों की सूचना मिलती रहेगी। उसमें से आप १२) मूल्य की पुस्तकें चुनकर हमें आदेश भेज देंगे। जोकि अपको केवल १०) की वी० पी० द्वारा भेजदी जायँगी। खर्चा सब मण्डल का ही होगा। और अपको घर बैठे १२) की पुस्तकें मिल जायँगी।

इसी प्रकार प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक माह आपको पुस्तकों की सूचना भेजी जावेगी और आप हर माह १०) में १२) की पुस्तकें प्राप्त करते रहेंगे।

(१) एक वर्ष में बारह किश्तें पूरी हो जाने पर वर्ष के अन्त में आपको १०) के मूल्य की, या इससे अधिक जो भी उस समय सम्भव होगा; मूल्य की पुस्तकें मण्डल की ओर से विशेष उपहार स्वरूप भेज दी जावेंगी;, जिनका मूल्य आपको नहीं देना पड़ेगा।

(२) मण्डल से सम्पर्कित जो भी सदस्य, पाँच अन्य सदस्य, बनाकर भेजेंगे उन्हें मण्डल की ओर से एक मास में प्रकाशित पुस्तकों का सैट निशुल्क भेंट स्वरूप भेज दिया जायेगा।

(३) सदस्यता कूपन के साथ दो रुपये का पोस्टल आर्डर आना अनिवार्य है; जोकि सदस्यता शुल्क होगा।

(४) न तो आपको एक मुश्त रुपया लगाना पड़ेगा और बिना किसी असुविधा के घर बैठे पुस्तकें मिल जावेंगी और अच्छा सा पुस्तकालय घर में बन जावेगा; गृह-सदस्य के अतिरिक्त आस-पास के मित्रजन भी लाभ उठा सकेंगे।

राष्ट्र भाषा प्रचार मंडल

१६९९, चाँदनी चौक, दिल्ली-६

जल्दी से
जल्दी
डाक छांटने और बांटने का काम जल्दी से जल्दी करने के लिए बड़े-बड़े शहरों को डाक वितरण क्षेत्रों या ज़ोनों में बांट दिया गया है। यदि आप अपनी चिट्ठियों पर पता पूरा लिखने के साथ ही ज़ोन नम्बर भी लिखा करें, तो आपकी डाक बहुत शीघ्र पहुंचेगी।
आप स्वयं पत्र लिखते समय अपने पते में ज़ोन नम्बर लिखना न भूलें।
ज़ोन नम्बर
से चिट्ठी जल्दी पहुंचती है
हमें उत्तम सेवा का अवसर दीजिये।
डाक-तार विभाग

आलोचना : स्वरूप और तत्त्व

श्री रामचन्द्र तिवारी

आलोचना वह साहित्यिक प्रक्रिया है जो काव्यगत सौन्दर्य का उद्घाटन, विश्लेषण एवं मूल्याङ्कन प्रस्तुत करती है। काव्यगत-सौन्दर्य के मुख्यतः तीन आधार होते हैं। १—मानव मात्र के अन्तस् में विद्यमान वासना प्रेरित सुख-दुःख मूलक आन्तरिक भावना। २—समाज के सांस्कृतिक विकास के साथ उद्भूत एवं विकसित होने वाली वैयक्तिक एवं सामाजिक चेतना। ३—अभिव्यक्ति को संभव बनाने वाली भणिति-भंगिमा। इनमें से प्रथम अर्थात् आन्तरिक भावना को हम एक सीमा तक सार्वभौम एवं शाश्वत मान सकते हैं। द्वितीय अर्थात् वैयक्तिक एवं सामाजिक चेतना का सम्बन्ध उन नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों से होता है जो युग एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। तृतीय अर्थात् अभिव्यक्ति के साधन-रूप में हम काव्य की भाषा एवं शैली को स्वीकार कर सकते हैं। काव्य के तत्त्वों, भाव, विचार, कल्पना एवं शैली की स्थापना इन्हीं आधारों को दृष्टि में रखकर की गई है। वास्तविक आलोचना काव्यगत सौन्दर्य के उपयुक्त सभी आधारों का विवेचन एवं विश्लेषण करके उनके महत्व और मूल्य का आकलन करती है। मूल्याङ्कन के लिए निश्चित एवं सर्वमान्य प्रतिमान का होना अनिवार्य है। जिन प्रतिमानों को सामने रखकर आलोचना की जाती है। उनकी स्थापना प्रायः काव्यगत-सौन्दर्य को आधार बनाकर ही की जाती है। इस प्रकार आलोचना के प्रतिमान काव्य में अन्तर्निहित मूल्यों के अनुवर्ती होते हैं। इसीलिए आलोचना के प्रतिमानों में कुछ ऐसे उपादान होते हैं जो शाश्वत एवं सार्वभौम हैं। इनका सम्बन्ध मानवीय संवेदना से होता है। जब हम सूर के काव्य का मूल्याङ्कन करते हुए कहते हैं कि उनका वात्सल्य वर्णन ही सहज, मार्मिक एवं विश्वजनीन है तो एक प्रकार से मानवीय संवेदना से ही प्रेरित होते हैं। इसी प्रकार जब हम तुलसी के 'मानस' के सम्बन्ध में अपना निर्णय देते हुए कहते हैं कि यह व्यक्ति एवं समाज की स्थिति एवं रक्षा के लिए विधि-निषेध प्रस्तुत करने वाली अनुपम कृति है तो एक प्रकार से व्यापक सामाजिक चेतना से ही प्रेरित होते हैं। बिहारी की वाग्विभूति पर मुग्ध होकर जब हम 'वाह ! वाह !' कह उठते हैं तो हमारा ध्यान मुख्यतः भाषा एवं शैलीगत विशेषताओं पर ही केन्द्रित रहता है। तुलसी के मानस में निहित सामाजिक चेतना सार्वकालिक नहीं है। आज के सामाजिक जीवन को देखते हुए उसकी उपादेयता सन्दिग्ध है। अतः काव्यालोचना के से सामाजिक चेतनोद्भूत उपादान युग की सीमा में आबद्ध होते हैं। यही स्थिति भणिति-भंगिमा की भी है। छायावादी काव्य की लाक्षणिक भंगिमा रीतियुगीन वाग्विदग्धता से अधिक सूक्ष्म एवं सांकेतिक है। सौन्दर्य दोनों में है किन्तु उसके आधार भिन्न-भिन्न हैं। तात्पर्य यह कि आलोचना के प्रतिमान आलोच्य काव्य कृति में निहित शाश्वत एवं सामयिक आनुभूतिक एवं अभिव्यक्तिगत-उपादानों पर ही आश्रित होते हैं। दोनों में मूल्यगत एवं तात्त्विक अन्तर नहीं है।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि आलोचना की आवश्यकता ही क्या है ? आलोचना, आलोच्य कृति से भिन्न किसी नवीन मूल्य की स्थापना नहीं कर सकती। कोई नवीन जीवन-दृष्टि नहीं दे सकती। फिर उसको महत्त्व क्यों दिया जाय ? वस्तुतः काव्य-रचना एक जटिल एवं संश्लिष्ट प्रक्रिया है। कवि-मानस चेतना की विविध स्थितियों एवं स्तरों का एक जटिल सङ्घात है। जगत् के रूप और गति का जो बिम्ब कवि-मानस में उभरता है वह सहज-स्फूर्त होने पर भी संश्लिष्ट होता है। सामान्य सहृदय उसके तात्कालिक

प्रभाव में बह सकता है। आवश्यक नहीं कि वह उसके समस्त उपादानों का सौन्दर्य हृदयंगम कर सके। ऐसे उपादान जो शाश्वत हैं जो मानव की आदिम वासना के निकट होने के कारण सहज ग्राह्य हैं, पाठक मात्र के मन को प्रभावित कर सकते हैं किन्तु ऐसे उपादान जिन्हें कवि ने दीर्घ अनुभव अध्ययन एवं अभ्यास के बल पर प्राप्त किया है, जो मानव-समाज की विकसित सांस्कृतिक चेतना के द्योतक हैं, उन्हें समझने और उनके सौन्दर्य का उद्घाटन करने के लिए प्रबुद्ध जनों की आवश्यकता पड़ती है। भावगत सौन्दर्य पर रीझना एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। मनुष्य मात्र इसका अधिकारी है। किन्तु काव्य के समस्त उपादानों की व्याख्या, विवेचन, विश्लेषण एवं मूल्याङ्कन करने के लिए भावुकता के साथ ही बौद्धिक क्षमता, शास्त्राभ्यास तथा यत्किञ्चित् वस्तुपरक दृष्टिकोण-सम्पन्नता की आवश्यकता है। इसके लिए मात्र मनुष्य होने से काम नहीं चलेगा वरन् विकसित चेतना वाले प्रबुद्ध सहृदय की आवश्यकता होगी। आलोचक एक ऐसा ही प्राणी होता है। वह काव्य के आत्मनिष्ठ (सब्जेक्टिव) सत्य को व्यवस्थित करके उसे एक वैज्ञानिक आधार देने की चेष्टा करता है। वह काव्यगत सौन्दर्य को वस्तुपरक (आब्जेक्टिव) बनाकर उपस्थित करता है। इसीलिए डा० नगेन्द्र ने आलोचना को 'कला का विज्ञान' कहा है। यह बात आगमनात्मक पद्धति के आधार पर कृति की व्याख्या करने वाली आलोचना के सम्बन्ध में अधिक लागू होती है; क्योंकि उसमें तथ्य-सञ्चयन, क्रम-निर्धारण, मान्यता स्थापन एवं सिद्धान्त-निरूपण की वैज्ञानिक पद्धति को महत्त्व दिया जाता है। यह होते हुए भी आलोचना उस कोटि का विज्ञान नहीं है जिस कोटि के भौतिक, रसायन या गणित-विज्ञान होते हैं। आलोचक के लिए पहली शर्त है कि वह आलोच्यकृति में रमे, उसका रुचिपूर्वक अवगाहन करे। रीझने और रमने के लिए संवेदन शील होने की आवश्यकता है। यही कारण है कि प्रत्येक सफल आलोचक किसी अंश तक कवि भी होता है। वह रसग्राही, भावक और मर्मी होता है, निरा ठूंठ पण्डित नहीं होता। अतः आलोचना को हम काव्य कृति की सापेक्षिता में ही वैज्ञानिक कह सकते हैं अन्यथा उसमें भी रचनात्मक साहित्य के तत्त्व विद्यमान होते हैं।

आलोचना का सर्वमान्य एवं शाश्वत रूप क्या हो सकता है? यह एक विचारणीय विषय है। आज, आलोचना की बीसियों पद्धतियाँ प्रचलित हैं। सभी में कोई न कोई तत्त्व की बात सन्निहित है साथ ही सभी कहीं न कहीं दोषपूर्ण सिद्ध हो रही हैं। ऐतिहासिक, निर्णयात्मक, वैज्ञानिक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवादी, प्रभाववादी, प्रगतिवादी, अभिव्यञ्जनावादी, जीवन वृत्तान्तीय व्याख्यात्मक आदि अनेक पद्धतियाँ, आज आलोचना के क्षेत्र में मान्य हैं। इन पद्धतियों से इतना ही प्रकट होता है कि आलोचक अनेक सन्दर्भों में रखकर काव्य-कृति को समझने की चेष्टा कर रहे हैं। कभी वे उसे युग-विशेष की चेतना के संदर्भ में रखकर देखना चाहते हैं। कभी सामाजिक चेतना के विकास के सन्दर्भ में। कभी वे उसे एक दार्शनिक की मुद्रा में परखते हैं कभी शुद्ध प्रभावग्राही संवेदन शील मानव की मुद्रा में। कभी वे उसे सर्वनिरपेक्ष स्वयंपूर्ण सौन्दर्य कृति मान लेते हैं और कभी उद्देश्यपूर्ण सामाजिक साधन या अस्त्र मानते हैं। कभी वे उसे पूर्णतः रीत्यानुसारी नियम-बद्ध रचना के रूप में स्वीकार करते हैं और कभी सहजोद्भूत स्वच्छन्द भावोच्छ्वास के रूप में। यह सब इसीलिए सम्भव हो रहा है कि आलोचना-साहित्य जिन काव्य-कृतियों के मूल्याङ्कन के प्रयास-रूप में लिखा जा रहा है वे स्वयं संश्लिष्ट जटिल एवं गतिशील जीवन-चेतना को चित्रित कर रही हैं। काव्य का केन्द्र-बिन्दु मनुष्य है। मनुष्य को समझना और उसे उसकी सम्पूर्ण जटिलता में चित्रित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। यह मनुष्य जड़ और चेतन तत्त्वों का अद्भुत सम्मिश्रण है। प्रकृति के साथ निरन्तर सङ्घर्ष करता हुआ वह आज जिस स्थिति में आगया है उसके विषय में स्पष्टतः कुछ भी घोषित नहीं किया जा सकता। उसका मन चेतना के अनेक स्तरों से युक्त है। उसकी बुद्धि अनुभव और परीक्षण की दीर्घ परम्परा में पलकर अत्यन्त पैनी हो गई है। उसका हृदय आदिम-वासना के संस्कारों से

लेकर आधुनिक वैज्ञानिक प्रभावों के दो सुदूरवर्ती विन्दुओं को अपनी सीमा में आबद्ध किए हुए है। जीवन में आने वाली परिस्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया सीधी और स्पष्ट नहीं हो सकती। ऐसे मनुष्य के जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने वाली काव्य-कृति स्वयं अपने में उलझी हुई एक अबूझ रहस्यमयी पहेली बन गई है। काव्य-कृतियों के इस जटिल एवं रहस्यमय सौन्दर्य की व्याख्या प्रस्तुत करने के प्रयत्न में आलोचना का बहु-पथ-गामिनी होना सहज सम्भाव्य है।

उपर्युक्त समस्त विचित्रताओं एवं सम्भावनाओं के बावजूद मनुष्य के सन्दर्भ में दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह है कि वह सुख-दुःख की मूल संवेदना तथा उससे उद्भुत वासनाओं, प्रवृत्तियों एवं मनोभावों का पुञ्ज है। दूसरी यह कि जीवन की प्रबल इच्छा को लेकर वह प्रकृति से निरन्तर जूझता आ रहा है। उसके इस सङ्घर्ष ने ही अनेक प्रकार के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक मूल्यों को जन्म दिया है, या यों कहिए कि सामाजिक चेतना को विकसित किया है। उसके अस्तित्व में मनोभावों का पुञ्ज एवं सामाजिक मूल्यों का आवेष्टन दोनों ही सदैव लक्ष्य किये जा सकते हैं। इसीलिए उसे विम्बित करने वाले काव्य में भी उपर्युक्त दोनों ही उपादान निरन्तर पाये जायेंगे। काव्य, बौद्धिक विकास की चरम स्थिति में भी भावना-शून्य नहीं हो सकता। शास्त्रीय दृष्टि से 'भाव' चित्त की चेतन दशा विशेष ही है। काव्य निर्जीव (चेतना-रहित अथवा भाव-शून्य) मनुष्य को कभी भी बिम्बित नहीं करेगा साथ ही उसके सङ्घर्ष की गाथा भी किसी न किसी रूप में काव्य कृतियों में व्यञ्जित होगी ही। इसीलिए काव्य-कृतियों से ही अपने प्रतिमान स्थिर करने वाली आलोचना भी कोरा विज्ञान बनकर नहीं जी सकती। इसीलिए आलोचना की जितनी परिभाषाएँ की गई हैं प्रायः सभी में उसके बौद्धिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप के साथ ही रचनात्मक स्वरूप की ओर भी इङ्गित किया गया है। आलोचना का विषय काव्य है और काव्य का विषय मनुष्य। इसीलिए आलोचना मनुष्य के काव्य-बिम्बित स्वरूप का अध्ययन प्रस्तुत करने वाली साहित्यिक प्रक्रिया है। मनुष्य न इतिहास है न दर्शन, न विज्ञान है न समाज-शास्त्र, न मनोविज्ञान है न गणित। ये समस्त शास्त्र उसे और उसके संघर्षों को समझने के साधन मात्र है। काव्य में वह अपनी संपूर्ण जटिलता के साथ बिम्बित होता है। अतः काव्य की मीमांसा करने वाली आलोचना अधिक से अधिक पूर्ण तभी हो सकती है जब वह समस्त शास्त्रों का आधार लेकर अपना स्वरूप निर्मित करे साथ ही नित्य जटिलतर होने वाली मानवीय संवेदना के मूल आधार को अङ्गी मानकर निरन्तर अपने प्रतिमान को उसके समानान्तर विकसित करती चले। ऐसा न होने पर काव्य-कृतियों का विकास किसी अन्य दिशा में होगा और आलोचना शास्त्र के प्रतिमान किसी दूसरी दिशा में अपना विकास करेंगे।

निष्कर्ष रूप में हम यही कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार मानव जीवन की कोई निश्चित एवं शाश्वत परिभाषा नहीं की जा सकती, जिस प्रकार काव्य को हम सदैव के लिए किसी निश्चित परिभाषा की मर्यादा में नहीं बाँध सकते, वैसे ही आलोचना के भी स्वरूप और तत्त्व की कोई अंतिम मर्यादा स्थिर नहीं की जा सकती। यही कारण है कि मैथ्यू आर्नल्ड, अनातोल फ्रांस, हेनरी जेम्स, आइ०ए० रिचर्डस, टी०एस० इलियट आदि विदेशी आलोचना से लेकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री अज्ञेय और डॉ० नगेन्द्र जैसे हिन्दी के आलोचकों तक की परिभाषाएँ कहीं न कहीं एकाङ्गी और अधूरी प्रतीत होती हैं।

—विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा : एक मूल्याङ्कन

डा० रामाधार शर्मा

हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा ने अब अपना एक स्वतन्त्र रूप ले लिया है। हिन्दी के नाम पर संस्कृत अथवा पश्चिमी समीक्षा सिद्धान्तों का उद्धरण हिन्दी समीक्षा के विकास की इस स्थिति में उचित नहीं है। यह ठीक है कि उक्त दो समीक्षायें हिन्दी की नींव हैं, परन्तु महल उसका अपना है जो निर्माण की स्थिति में होते हुए भी बहुत कुछ बन चुका है। वर्तमान हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में इस महल की उपेक्षा की जा रही है।

हिन्दी की समीक्षा ने रस को प्रतिनिधि साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया है एवं राष्ट्रीय भावात्मक स्तर पर उसकी प्रतिष्ठा की है। रस सिद्धान्त भारतीय वस्तु है। उसकी बड़ी पुरानी परम्परा है। उसका भरत मुनि से लेकर स्वच्छन्दतावादी समीक्षा तक अबाध विकास होता रहा है। उसके प्राचीन रूप में कई हेर फेर हुए हैं और उसका नवीन रूप एक व्यापक साहित्यिक प्रतिमान बनने की क्षमता रखता है। व्यष्टि से लेकर समष्टि तक, सृष्टा से लेकर भोक्ता तक उसका विस्तार हुआ है। यह रस मत प्रमुखतः समाज-शास्त्र और नवीन मनोविज्ञान से परिपुष्ट भी है। आज हिन्दी के इस क्षेत्र में नवीन शब्दावली का अधिक प्रयोग हो रहा है। परन्तु शब्द कोई भी हों उनमें अर्थ भेद बहुत कम दिखलाई पड़ता है। हिन्दी की छायावादी समीक्षा तक विविध शब्दों के भीतर लगभग एक ही रसार्थ अन्तर्व्याप्त है।

आरम्भ में, भारतेन्दु युग की समीक्षा में हमें परम्परागत शास्त्रीय समीक्षा के भीतर रस के रूढ़ रूप के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की दृष्टि प्रमुखतः शास्त्रीय थी परन्तु उनमें कतिपय नवीनतायें भी प्राप्त होती हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने रस की उपयोगितावाद की भूमि पर प्रतिष्ठा की। उन की समीक्षाओं में सामयिक उपकरणों का अधिक योग है। यह बात उनके समसामयिक अन्य 'नवरीतिवादी समीक्षकों' में नहीं है, वस्तुतः ये समीक्षक रस के महत्व से परिचित थे। उन्होंने कतिपय नई बातें भी कही हैं, परन्तु उनकी दृष्टि, रस के रूढ़िगत चमत्कार पर अधिक रही। रस का ऊर्जस्वित स्वरूप हमें सर्व प्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षाओं में ही मिलता है। शुक्लजी का मत प्रमुखतः नीतिवाद पर आधारित है। शुक्लजी की नैतिकता सामाजिक है और उनका सामाजिक आदर्श बहुत कुछ तुलसीदासजी से प्रभावित है। यही रस सिद्धान्त स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में भी ग्राह्य हुआ है। उसका आधार शुद्ध संवेदन है। देश और काल की सीमाओं से युक्त, एकदम निर्विशेष, यह रस समाज-शास्त्र के द्वारा भी परिपोषित हुआ है, जो उसे एक दृढ़ वस्तुनिष्ठ और व्यापक आधार देता है। यह वस्तु एक ओर वैयक्तिक भूमि का स्पर्श करती है और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय भूमि का भी। यह राष्ट्रीय वस्तु है, हिन्दी के 'यूरोपीय समीक्षकों' में इस वस्तु का सर्वथा अभाव था, उनकी दृष्टि साहित्यिक होते हुये भी साम्प्रदायिक थी। भारतेन्दुयुगीन समीक्षकों में सर्वप्रथम इस राष्ट्रीय वस्तु का श्रीगणेश हुआ, परन्तु वहाँ भी समीक्षा-क्षेत्र में यह वस्तु पर्याप्त स्फुट नहीं हो पाई। साहित्य की अन्य विधाओं में भारतेन्दु युग इस दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। द्विवेदी युग में इसका सम्बन्ध सामयिक उपकरणों से जुड़ गया, परन्तु उसके अधिक व्यापक रूप की उपेक्षा होती रही। आचार्य शुक्ल ने उसकी नैतिक सार्वभौमिकता पर विशेष रूप से बल दिया और उसके पुराने रूप के प्रति कुछ अधिक आग्रह दिखलाया है। द्विवेदीजी की समीक्षाओं में रस का सम्बन्ध सामयिकता से है और शुक्लजी की समीक्षाओं में नैतिकता से। निश्चय ही नीति कहीं अधिक व्यापक

भूमि की वस्तु है, स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में यही राष्ट्रीय वस्तु और भी अधिक व्यापक भूमियों पर पहुँच गई है, आचार्य नन्ददुलारेजी वाजपेयी की समीक्षाओं में यह राष्ट्रीय वस्तु अपने वास्तविक रूप में प्रस्तुत की गई है, इसमें एक ओर सामयिक उपकरणों का सघन योग है और दूसरी ओर वह अपनी आन्तरिक भाव सत्ता के कारण शाश्वत और सार्वभौम भूमियों पर भी पहुँचती है। यह राष्ट्रीय वस्तु भावात्मक है और नैतिक तथा कलात्मक भी। डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी की मानवतावादी दृष्टि में उसके सार्वभौम पक्ष पर अधिक बल है और डा० नगेन्द्र की समीक्षाओं में मनः शास्त्र के माध्यम से उसका वैयक्तिक पक्ष अधिक उभरा है। नगेन्द्रजी में वस्तु का व्यष्टिनिष्ठ स्वरूप प्रमुख है और द्विवेदीजी में समष्टिनिष्ठ। वाजपेयीजी ने व्यष्टि और समष्टि दोनों को यथोचित महत्त्व दिया है, परन्तु दोनों पर राष्ट्र तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार रस सिद्धान्त ही स्वच्छन्दतावादी समीक्षा तक विकसित होता रहा है। यह सिद्धान्त पूर्णतः भारतीय है, परम्परा प्राप्त है और नवीनताओं से युक्त भी।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के उपरान्त हिन्दी में प्रगतिवादी और मनोवैज्ञानिक समीक्षाएँ प्रस्तुत की गई। हिन्दी की नई समीक्षा के नाम से अधिकतर इन्हीं समीक्षाओं का बोध होता है। प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य में सामाजिक पक्ष का आग्रह लेकर चलती है और मनोवैज्ञानिक समीक्षा वैयक्तिक पक्ष का। इन समीक्षाओं का विकास भारतीय परम्परा के अनुरूप नहीं किया जा रहा है, यद्यपि इन दोनों समीक्षाओं में परम्परा की पर्याप्त चर्चा की गई है। दोनों ही समीक्षाएँ राष्ट्र तत्त्व की उपेक्षा कर रही हैं। इस नई समीक्षा का सबल पक्ष यह है कि इसमें समाज शास्त्र और मनोविज्ञान को आधार बनाया गया है। परन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है कि इसमें मानव की भाव सम्पत्ति को उचित महत्त्व नहीं मिल पाता। समस्त ज्ञान-विज्ञानों से मनुष्य बड़ा है, वह सर्वोपरि है। मनुष्य का जीवन चिरन्तन विकासशील है। किसी एक ही शास्त्र की भूमि से उस पर अन्तिम निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी एक ही आधार पर सम्पूर्ण मनुष्य की परीक्षा करना उचित नहीं है। इसलिए काव्य जो मनुष्य के जीवन से घनिष्ठतः सम्बद्ध है, किसी विज्ञान का बँधुवा नहीं हो सकता। कोई भी शास्त्र चाहे वह समाजशास्त्र हो या मनःशास्त्र, काव्य के समान नहीं कहा जा सकता। कोई भी विज्ञान काव्य की बराबरी नहीं कर सकता। आज पश्चिम में समीक्षाएँ विज्ञान प्रधान हो गई हैं और अनेक वादों में उलझ गई हैं। इससे समीक्षा के मार्ग में अनेक बाधाएँ आई हैं। हिन्दी की नई समीक्षा में कोई सुनिश्चित सर्वस्वीकृति आदर्श नहीं दिखलाई पड़ता। प्रयोगवादी (इसमें भी नकेनवाद भी सम्मिलित है।) समीक्षाएँ उत्तरदायित्व से रहित भी दिखलाई पड़ती हैं। इन समीक्षाओं की सबसे बड़ी कमी यह है कि इनमें राष्ट्रीय तत्त्व का ही लोप होता जा रहा है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षा तक राष्ट्रीय तत्त्व क्रमशः विकसित और पुष्ट होता रहा है, वही यहाँ आकर अस्ति नास्ति के बीच में पड़ गया है। जिस बात की आज हमें सबसे अधिक आवश्यकता है, उसी का नई समीक्षा में अभाव हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। प्रगतिवादी समीक्षा में बात-बात पर मार्क्स की दुहाई दी जाती है। रूस और चीन की प्रशस्तियाँ सुनाई जाती हैं तथा राष्ट्रवाद का विरोध भी किया जाता है। प्रगतिवादी अन्तर्राष्ट्रीय लोग हैं, राष्ट्र से इन्हें कोई मतलब नहीं। यह बात भारत की उत्तरी सीमा पर चीन के आक्रमण से बहुत स्पष्ट हो गई है। जो समीक्षा न केवल राष्ट्रीयता की उपेक्षा करे, वरन् उसके विरुद्ध भी आचरण करने लगे वह अपने आप में कितनी ही मूल्यवान् वस्तु क्यों न हो, कभी भी मान्य नहीं हो सकती। साहित्य की राष्ट्रीय चिन्ता एवं भाव सम्पत्ति ही नई समीक्षा का लक्ष्य हो सकती है। इसकी उपेक्षा करके कोई भी समीक्षक यशस्वी नहीं हो सकता। प्रगतिवादियों या साम्यवादियों का साहित्यिक मत आज राष्ट्र विरुद्ध भी लगता है। दूसरी ओर प्रयोगवादियों का मत कम से कम राष्ट्र विरुद्ध तो नहीं है। हाँ, वह राष्ट्रीयता की ओर से पर्याप्त उदासीन जरूर है और मन की अच्छी बुरी उलझनों को ऊटपटाङ्ग ढङ्ग से

व्यक्त भी करते हैं तथा विज्ञापन भी। यदि इनकी यही दशा रही, तो प्रयोगवादी साहित्य को समझने के लिए, रीति काव्य की कलात्मक ऊँचाई के अभाव में भी एक रीतिशास्त्र की आवश्यकता होगी। प्रयोगवादी समीक्षाओं में मनोविज्ञान को प्रमुख आधार बनाया है। यह समीक्षा व्यक्तिवादी है। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी समीक्षाएँ भारतीय परम्परा से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकीं हैं। इनमें यूरोपीय प्रभाव प्रमुख है। जब तक ये समीक्षाएँ भारतीय परम्परा से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं सिद्ध कर देतीं तब तक व्यापक व्यवहार और विश्वास की वस्तु भी नहीं बन सकती। यह शुभ लक्षण है कि अब इन दोनों समीक्षाओं में भारतीय परम्परा से सम्बन्ध स्थापन के प्रयास आरम्भ हो गए हैं।

संभवत: इस नई समीक्षा की गतिविधि को देख कर ही डा० इन्द्रनाथ मदान ने अपने 'आलोचना तथा काव्य' नामक ग्रन्थ में आधुनिक समीक्षा के सम्बन्ध में कुछ शङ्काएँ प्रकट की हैं। उनका कथन है कि आलोचना के क्षेत्र में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में अराजकता फैली हुई है। समीक्षकों के पास कोई विशिष्ट एवं व्यापक मानदण्ड भी नहीं है जिससे वे समस्त साहित्य की सम्यक् परीक्षा कर सकें। इसके साथ ही डा० मदान की व्यक्तिचिन्तन एवं समाज मङ्गल में समन्वय स्थापित करने वाले अवतारी आलोचक की अपेक्षा एवं प्रतीक्षा भी है। डा० मदान को यह समन्वय हिन्दी की समीक्षा में कहीं नहीं मिला। उनका विचार है कि शुक्लजी की सामाजिक पद्धति मार्क्सवादी आलोचना पद्धति में परिणत होती है। (जिसमें व्यक्ति चिन्तन की उपेक्षा है।) और सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति (विशेषकर श्री वाजपेयी की समीक्षा) के मूल में व्यक्तिवादी विचारधारा है और यही वैज्ञानिक और विकसित होकर मनोविश्लेषणवादी समीक्षा का रूप धारण करती है (जिसमें समाज-मङ्गल को महत्त्व नहीं दिया गया।) डा० मदान के अनुसार सौष्ठववादी समीक्षा शुक्लजी की समीक्षा के विरोध का परिणाम है। परन्तु नम्र निवेदन है कि सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी समीक्षा शुक्लजी के विरोध का परिणाम नहीं है, उसका विकास है। शुक्लजी का रस सिद्धान्त ही इस समीक्षा में और भी अधिक वैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित हुआ है तथा उसे और भी अधिक दृढ़ एवं व्यापक आधार दिया गया है। शुक्लजी के मत में जो कतिपय कमियाँ थीं वे यहाँ दूर करदी गई हैं। शुक्लजी और स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों में एक ही रस-सूत्र अन्तर्व्याप्त है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। द्विवेदीयुग और स्वच्छन्दतावादी युग की अन्तरात्मा भी पूर्णत: भारतीय है। तब इनमें विरोध देखना उचित नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार शुक्लजी के मत की परिणति प्रगतिवाद में एवं वाजपेयीजी के मत की परिणति मनोविश्लेषणवाद में बतलाना भी अनुचित है। यह ठीक है कि शुक्लजी ने सामाजिक पक्ष के लिए आग्रह व्यक्त किया है। परन्तु इसीलिए उनका मत प्रगतिवाद का पूर्व रूप नहीं बन जाता। हम जानते हैं कि शुक्लजी की दृष्टि राष्ट्रीय थी और प्रगतिवादी मूलत: राष्ट्रीयता के विरुद्ध हैं। इसी प्रकार यह ठीक है कि वाजपेयीजी ने 'काव्य संवेदन' को अपने समीक्षा का आधार बनाया है एवं अपनी समीक्षा दृष्टि के निर्माण में मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण से सहायता ली है। परन्तु इसीलिए उनका मत मनोविश्लेषणवाद की परम्परा में नहीं आ जाता। शुक्लजी पर प्रगतिवादियों की ओर से अनेक आरोप लगाये गये हैं कि वे ब्राह्मणवादी हैं, उनकी समीक्षा में कई कमजोर पहलू हैं। कहीं कहीं पर उनमें एकाङ्गी समाज-शास्त्र भी देखा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि शुक्लजी प्रगतिवादियों के मेल में नहीं हैं। शुक्लजी ने लैनिन पर जो मत दिया था, उससे भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है। वाजपेयीजी ने मनोविश्लेषणों का कई स्थानों पर विरोध किया है। उनके मत में किसी शास्त्र की अथवा विज्ञान की एकाङ्गिता नहीं है और सबसे बड़ी बात यह कि उनकी समीक्षा दृष्टि का निर्माण भारतीय परम्परा के मेल में है और देश की वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है। वाजपेयी जी की समीक्षा के मूल में व्यक्तिवादी विचार धारा है। इस

सम्बन्ध में यहाँ कुछ कहना उचित नहीं होगा। इन पंक्तियों के लेखक की धारणा ठीक इसके विपरीत है। वाजपेयी जी की समीक्षा व्यक्तिवादी नहीं है, रसवादी है और यह रसवाद राष्ट्रीय भाव सत्ता पर आधृत है। इसके साथ ही वाजपेयी जी ने वादों का इतना कड़ा विरोध किया है कि उन्हें किसी भी वाद के अन्तर्गत रखना उनकी धारणाओं के विपरीत जाना है। उन्हें राष्ट्रवादी कहने में भी मुझे भय है, तब उन्हें व्यक्तिवादी कहना सचमुच साहस का काम है।

हिन्दी की नई समीक्षा में सिद्धान्त और व्यवहार के क्षेत्र में अराजकता है। इसमें एक ही सिद्धान्त को मानने वालों में भी बड़ा मत वैभिन्य है और व्यावहारिक धरातल पर पहुंच कर यह भेद और भी शतगुण हो जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी की समस्त आधुनिक समीक्षा अराजकता से भरी हुई है। द्विवेदी युग और स्वच्छन्दतावादी युग में प्रौढ़ सैद्धान्तिक आधार है और उसका दृढ़ता पूर्वक प्रयोग भी किया गया है। यहाँ कोई अराजकता नहीं है। रस सिद्धान्त इन समीक्षाओं में व्यवहृत हुआ है। यह परम्परा प्राप्त है और नए ज्ञान विज्ञान से पुष्ट भी। उससे देश विदेश के सभी कालों के साहित्य की परीक्षा की जा सकती है। उसमें जीवन के छोटे बड़े सभी पहलुओं का समाहार हो जाता है। अपने नये रूप में वह साहित्य की विभिन्न विधाओं के परीक्षण में भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। नई समीक्षा में इस व्यापक मानदण्ड की उपेक्षा एवं विरोध हुआ है तथा सीमित मानदण्डों की ओर अभिरुचि व्यक्त हुई है। इससे समीक्षा क्षेत्र में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं और एक ही लेखक के सम्बन्ध में कई प्रकार के विरोधी मत व्यक्त किए गये।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में व्यक्ति-चिन्तन एवं समाज-मङ्गल दोनों में समन्वय हुआ है। यह समीक्षा व्यष्टि और समष्टि, आनन्द और लोक मङ्गल में एकसूत्रता स्थापित करती है। वह एक ओर समय के क्षितिज से सम्बद्ध है और दूसरी ओर चिरन्तन अनन्त में भी अपना प्रकाश फेंकती है। वह सामयिक भी है और शाश्वत भी। अनेक ज्ञान-विज्ञानों से सम्बद्ध होते हुए भी वह साहित्यिक है और साहित्य को ही सर्वोपरि मानती है। वह राष्ट्र की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक है तथा राष्ट्रीय जीवन की विचारधारा का साहित्यिक प्रतिरूप भी कही जा सकती है। इस समीक्षा का आदर्श रूप हमें श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षाओं में उपलब्ध होता है। वाजपेयीजी ने रस सिद्धान्त को राष्ट्रीय संवेदन से संबद्ध कर उसे एक व्यापक एवं प्रौढ़ आधार दिया है तथा समीक्षा क्षेत्र में फैली हुई अराजकता के अनुशासन के लिए एक सशक्त मानदण्ड प्रस्तुत किया है।

हिन्दी की समीक्षा ने अब पर्याप्त प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। उसके पास व्यक्तियों की कमी नहीं है। और न सिद्धान्त का ही अभाव है। इस सम्बन्ध में अब पञ्जर सामग्री भी उपलब्ध है और बड़ी तेजी के साथ अभावों की पूर्ति भी की जा रही है। हमारे पास संस्कृत के साहित्य-शास्त्र की एक अत्यन्त समृद्ध परम्परा है। पश्चिम के नवीनतम ज्ञान के अध्ययन की हमें अशेष सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं तथा मौलिक चिन्तन से दीप्त अनेक आचार्य प्रतिभाओं के दिशा-निर्देश का हमें सौभाग्य प्राप्त है। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी-समीक्षा का वर्तमान समृद्ध हो और भविष्य उज्ज्वल, तो यह स्वाभाविक ही होगा।

—शासकीय महाविद्यालय, बालाघाट, म० प्र०

आलोचना

श्री गोपीचन्द गुप्त

आधुनिक काल में आलोचना के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ है। इस युग में आलोचना की कई नूतन शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। पाश्चात्य साहित्य ने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया। आधुनिक काल में आलोचना की मुख्य प्रवृत्तियां निम्न प्रकार हैं—

आत्म प्रधान आलोचना—इस प्रकार की विधि में आलोचक पर आलोच्य ग्रन्थ का जैसा प्रभाव पड़ता है, उसी के अनुकूल वह अपनी विचार धारा को प्रकट करता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोच्य ग्रन्थ का आलोचक पर प्रभाव उल्लेखनीय है।

अनातोले फ्रान्स का कथन है कि आलोचक उस न्यायाधीश के समान नहीं होता है जिसका कार्य दण्ड देना होता है, प्रत्युत उस सहृदय के समान होता है जो कि महान् साहित्यिक विधियों के बीच में रहता हुआ अपने अनुभव एवं साहसिक कृतियों का वर्णन करता है।

इस प्रकार की आलोचना की विशेषताओं का एकीकरण करे तो ज्ञात होगा कि—

(क) आलोचक आलोच्य ग्रन्थ से जैसा प्रभाव प्राप्त करता है, वैसा ही अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त करता है।

(ख) इस प्रकार के आलोचक में प्रभाव ग्राह्य क्षमता तथा अभिव्यञ्जना की क्षमता होनी चाहिये।

इस प्रकार की आलोचना समाज के लिए उपयोगी नहीं है क्योंकि विभिन्न विद्वानों पर विभिन्न प्रकार से पड़े प्रभाव के कारण उसकी आलोचना में पर्याप्त अन्तर होगा। आलोचक पाठक को उसके अध्ययन में सहायता करने में असमर्थ होगा क्योंकि आलोचक का आधार अपनी आत्मानुभूति पर पड़े प्रभाव को व्यक्त करना ही होता है।

२. **सैद्धान्तिक आलोचना**—डाक्टर श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन नामक ग्रन्थ में इस प्रकार की आलोचना पर विचार करते हुए बतलाया है कि यह आलोचना एक प्रकार से आलोचना का शास्त्रीय पक्ष है और शेष प्रकार की आलोचनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार से उसका प्रयोग एवं सिद्धान्तों का निर्माण साहित्य के आधार पर होता है। साहित्य का अध्ययन करने के उपरान्त ही सिद्धान्तों का स्थिरीकरण होता है। अतः जब कभी सिद्धान्तों में कोई दोष अथवा अभाव प्रकट हो तो आलोचक को साहित्य की तरफ अपनी दृष्टि दौड़ानी चाहिये। लक्ष्य ग्रन्थों के अध्ययनोपरान्त लक्षण ग्रन्थ का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार की आलोचना का उत्थान रीतिकाल में विशेष रूप से हुआ। भरत मुनि का काव्य-शास्त्र राजशेखर की काव्य मीमांसा, केशव की रसिक प्रिया, पद्माकर का रस विनोद, भिखारीदास का काव्य निर्णय इस प्रकार की आलोचना के मुख्य ग्रन्थ है। इस प्रकार की आलोचना में साहित्य सृजन के लिए सिद्धान्त का निर्धारणीकरण होता है।

३. **निर्णयात्मक आलोचना**—आचार्य हडसन का कथन है कि साहित्य में निर्णय सार्वभौमिक है····बिना यह सोचे कि जो कुछ वह पढ़ रहा है, वह महत्त्वपूर्ण है – कोई भी किसी कृति को विवेकपूर्वक नहीं पढ़ सकता है।

इस प्रकार की आलोचना की शैली में सैद्धान्तिक आलोचना के सिद्धान्तों की व्यावहारिक रूप दिया जाता है। कृति को आलोचक साहित्य के सिद्धान्तों पर कस कर उसका निर्णय देता है। कृति के अध्ययन के उपरान्त उसके गुण एवं दोषों पर विवेचन किया जाता है।

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में पृष्ठ ३४७ में लिखा है कि "इस शैली के

आलोचक तीन प्रकार से अपना निर्णय देते हैं—पहले वे जो अपनी रुचि और भावानुभूति के अनुसार निर्णय करते हैं, वे नियम नहीं जानते। दूसरे वे जो केवल नियमों को मिलाकर सम्मति स्थिर करते हैं। तीसरे वे निर्णायिक होते हैं जो नियमों के विशेषज्ञ तो होते हैं पर रहते हैं नियमों के परे। इसी श्रेणी विभाजन में तीसरे प्रकार के आलोचक उच्चकोटि के होते हैं। क्योंकि इस प्रकार के आलोचक को सिद्धान्तों के साथ ही साथ अपनी अनुभूति को काम में लाना पड़ता है।

४. व्याख्यात्मक आलोचना शैली—इस प्रकार की आलोचना की शैली आज के युग में सबसे अधिक लोक प्रिय है। यह पद्धति साहित्य का अङ्ग न होकर विज्ञान का अङ्ग है। कवि ने जो कुछ अपनी कृति में लिखा है, आलोचक उसको सरल एवं सुन्दर बनाकर पाठकों के सामने अध्ययनार्थ प्रस्तुत करता है। इस शैली के अन्दर आलोचक न्यायाधीश की भाँति काम न करके एक अन्वेषक के रूप में कार्य करता है। निर्णयात्मक आलोचना में जिस प्रकार साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। उन नियमों को राजकीय तथा नैतिक नियमों के समान अपरिवर्तनशील तथा दृढ़ मानता है, उन्हीं नियमों को अपने सम्मुख रख कर कलाकार की रचना का मूल्याङ्कन स्थिर करता है; परन्तु व्याख्यात्मक आलोचक को यह कार्य स्वीकार नहीं है। उसका काम है कि कलाकार की कृति में जो भाव गढ़े हैं उन भावों को खोदकर पाठक के सन्मुख अध्ययन के हेतु प्रस्तुत करे। इस प्रकार की शैली के अन्दर श्रेष्ठ आलोचक का स्थान उस आलोचक को दिया जाता है जो पाठकों को सौन्दर्य के दर्शन करावे। इस शैली का आलोचक सौन्दर्य का उद्घाटन करता है, उसका विवेचन करता है, गूढ़ रहस्य को सरल कर पाठक के सामने अध्ययन के हेतु प्रस्तुत करता है। भाष्य तथा टीका को हम इस प्रकार की आलोचना के अन्तर्गत रख सकते हैं।

५. प्रगतिवादी आलोचना—यह शैली प्रगतिवादी विचारों की देन है। इस प्रकार के आलोचक प्रगतिवादी साहित्य को उत्तम मानते हैं।

इस प्रकार की आलोचना साम्यवादी विचारधारा की पोषिका है। इस प्रकार के आलोचक एक ऐसे समाज के निर्माण पर जोर देते हैं जो शोषण से परे है, जहाँ पर शोषक तथा शोषित का भेद भाव न हो। इस प्रकार के आलोचक शोषित वर्ग का पक्ष ग्रहण करके शोषकों की निन्दा करते हैं। इस प्रकार के साहित्य से वर्ग सङ्घर्ष की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। इस श्रेणी का साहित्य मङ्गल का विधान समाज के सामने प्रस्तुत करने में असमर्थ है। इसलिए यह साहित्य जन-कल्याण के निमित न होकर एक वर्ग के कल्याण के लिए उपयोगी होगा।

इस प्रकार का साहित्य मानव को मानव कल्याण की भावना से प्रोत्साहित करने में असमर्थ है। साहित्य का उद्देश्य कान्ता सम्मत उपदेश देना है न कि वर्ग सङ्घर्ष को तीव्र करना। यह आलोचना की शैली एक तरफा डिग्री होने के कारण विशेष उपयोगी नहीं है।

६. मूल्यवादी आलोचना—इस आलोचना का मुख्य आधार काव्य को नैतिकता की दृष्टिकोण से मूल्याङ्कन करना है। इस आलोचना के अनुसार वह काव्य ही उत्तम ठहराया जा सकता है जो कि मानव के मांगल्य का विधान रखता है। इस शैली के विचारकों का कथन है कि कला का उद्देश्य सौन्दर्य का निर्माण करना है। दूसरे वर्ग का कथन है कि कला का उद्देश्य मानव कल्याण है। वही कला श्रेष्ठ है जो मानव के कल्याण के विधान को लिए हुए हो।

यथार्थ रूप से सद् साहित्य का उद्देश्य यही है कि वह मानव के कल्याण करने में सार्थक हो। भक्तप्रवर तुलसीदास का कथन है।

कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

इस प्रकार के आलोचकों का आलोच्य ग्रन्थ का मन्थन करते समय सत्यं शिवं सुन्दरं का विधान अपने सामने रखते हैं।

७. सौष्ठववादी आलोचना—सौष्ठववादी आलोचक अवसरवादी होते हैं। इस खेवे के आलोचक इस बात का ध्यान रखते हैं कि कलाकार स्वतन्त्र होता

है। प्रत्येक कलाकार की रुचि भिन्न होती है। रुचि वैषम्य के साथ-साथ कलाकार किसी बन्धन को स्वीकार नहीं करता है। वह सामाजिक तथा राजनीति के बन्धन को स्वीकार नहीं करता है। वह साहित्य-शास्त्रकारों के बनाये हुए नियमों के बन्धन को स्वीकार नहीं करता है। साहित्यकार अपनी रुचि के अनुसार काव्य रचता है।

इस प्रकार आलोचक साहित्यकार के अन्तस्थल में प्रवेश कर उसको काव्य का मूल्याङ्कन करने का प्रयास करता है। आधुनिक काल में हिन्दी-साहित्य में जो विभिन्न काव्य प्रवृत्तियाँ चल पड़ी है। इसका मूल कारण साहित्यकारों की रुचि का वैषम्य ही है। किसी काव्य में गूढ़ भावों को संचित करके उसमें आत्मा तथा परमात्मा के मिलन की मधुर झाँकी का वर्णन किया जाता है तो किसी काव्य में लाक्षणिक प्रयोग की ओर विशेष बल दिया जाता है। कुछ साहित्यकार प्रयोगवाद के चक्कर में पड़कर प्राचीन परम्पराओं का परित्याग कर नवीनता के मोह में फँस जाते हैं। इस शैली के आलोचक स्वच्छन्दता को महत्त्व देते हैं। वे वर्ग विशेष के काव्य के मोह के बन्धन से स्वतन्त्र होते हैं।

८. **मनोवैज्ञानिक आलोचना शैली**—इस शैली के आलोचक कवि या साहित्यकार के अन्तस्थल में प्रवेश करके, कवि की चित्त वृत्ति तथा स्वभाव से परिचित होकर इस प्रकार के काव्य की आलोचना करता है। वह जीवन, जगत, ईश्वर, आत्मा तथा परमात्मा के विषय में साहित्यकार तथा कवियों के विचारों की व्याख्या करता है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति में कवि की मन स्थिति पर विचार विमर्श किया जाता है। कवि या साहित्यकार अपने मन की भावना को दबा लेता है। ये भावनाएँ चेतन मन से अचेतन मन की ओर अग्रसर हो जाती है। समय के साथ ही साथ ये भावनायें साहित्यकार तथा कवि की लेखनी के द्वारा समाज के सन्मुख आ जाती है। साहित्यकार या कवि कविता या काव्य सृजन करने का प्रयास नहीं करता है, उसके हृदय से भावनाएँ स्वतः निकल आती हैं।

उत्तम आलोचना शैली—इन शैलियों में सर्वश्रेष्ठ आलोचना की शैली कौनसी है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। सर्वश्रेष्ठ आलोचना शैली वही हो सकती है जिसमें तमाम आलोचना पद्धतियों के उत्तम तत्वों का मिश्रण हो। उपरोक्त आलोचना की शैलियों पर विचार-विमर्श करते हैं तो ज्ञात होगा कि व्याख्यात्मक आलोचना की शैली आदर्श आलोचना की पद्धति है। इस पद्धति के द्वारा आलोचक पाठक का सहायक बन कर कवि या साहित्यकार की विचारधारा को समझने का प्रयत्न करता है। इस शैली में प्रमुख रूप से तमाम शैलियों की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ आ जाती हैं। इस प्रणाली के आलोचक सर्वप्रथम कवि या साहित्यकार की रचना को व्याख्या करके पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। स्थान-स्थान पर पाठकों के लिये साहित्यकार की रचना का सरल तथा स्वाभाविक बनाने के हेतु अपनी ओर से आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यह शैली तमाम आलोचना की विधियों के आवश्यक तत्वों के समन्वय करने का प्रयास करती है। इस दृष्टिकोण से वह एक आदर्श आलोचना प्रणाली है।

—जयपुर, राजस्थान।

आलोचना के प्रकार

प्रो० इन्द्रपालसिंह 'इन्द्र'

आलोचना मानव मन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। विचार शक्ति का उदय होने के साथ ही आलोचना का आरम्भ हो जाता है। जब मनुष्य किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के सम्पर्क में आता है, उस समय उसके ऊपर जो उस व्यक्ति या वस्तु का प्रभाव पड़ता है, उस के सम्बन्ध में वह अपनी धारणा बना लेता है। उस धारणा की अभिव्यक्ति ही से मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में पाठक करता ही है। उस अभिव्यक्ति में जब क्रमबद्धता एवं सौष्ठव आ जाता है, तो उसे आलोचना कहने लगते हैं। इसी प्रकार की आलोचना का जन्म साहित्य में पहले पहल होता है जिसे प्रभाववादी अथवा आत्म प्रधान आलोचना कहते हैं।

आत्म प्रधान आलोचना में आलोचक किसी प्रकार के नियम अथवा सिद्धान्तों के बन्धन में आबद्ध नहीं होता। उसके ऊपर वृत्ति का जो प्रभाव पड़ता है, उसका स्वेच्छा पूर्वक विश्लेषण करता है। उसमें वैयक्तिक अभिरुचि का ही प्राधान्य होता है। इस प्रकार के आलोचक की शैली में भी भावात्मकता होती है। क्योंकि ऐसा आलोचक चिन्तक कम एवं भावुक अधिक होता है। उसमें बुद्धि तत्व की अपेक्षा हृदय तत्व की प्रधानता होती है। ऐसा आलोचक कृति की गहराई में न जाकर उसके बाह्य प्रभाव की अभिव्यक्ति ही अपनी व्यक्तिगत रुचि के आधार पर करता है। भावना के वेग, वैयक्तिकता के प्राधान्य एवं शैली के भावपूर्ण होने के कारण इस प्रकार की आलोचना को रचनात्मक आलोचना भी कहते हैं। वास्तव में ऐसे आलोचक की रचना भी कलाकार की कृति के समान एक कलाकृति ही होती है। क्योंकि दोनों की अनुभूति का स्वरूप लगभग समान ही होता है। कलाकार जीवन एवं प्रकृति के दृश्यों तथा रूपों का कल्पनात्मक चिन्तन करता है और आलोचक कलाकार की कृतियों का कल्पनात्मक चिन्तन करता है। इसी कारण उसमें भावना का तीव्र आवेग होता है। हिन्दी में पद्मसिंह शर्मा की बिहारी की आलोचना इसी कोटि की है। आधुनिक आलोचकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी इसी कोटि के आलोचक हैं। यह आलोचना का विशुद्ध रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भिन्न रुचिर्हिलोकः के अनुसार ऐसी आलोचना के अनेक रूप हो सकते हैं।

सैद्धान्तिक आलोचना—जब आलोचक समान कृतियों का अध्ययन करके उनमें से व्यापक सिद्धान्तों की खोज करता है तथा नियम निर्धारण करता है, तब सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म होता है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अपने प्रयोगों के समान फल से नियम निर्धारित करता है, उसी प्रकार आलोचक भी अनेक कृतियों में कतिपय समानताएँ पाकर नियम निर्मित करता है। किन्तु यदि किसी पुस्तक में केवल सिद्धान्त निरूपण ही हो, तो वह काव्य शास्त्र के भीतर आयेगी। आलोचना के नहीं। आलोचना के अन्तर्गत तो उसी कृति को स्थान मिलेगा, जिसमें किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया हो अथवा किसी पूर्ववर्ती सिद्धान्त का विवेचन किया गया हो या उसको विकसित किया गया हो अथवा उसे नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया हो। उदाहरणार्थ आचार्य शुक्ल का 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' वाला निबन्ध इसी कोटि में आयेगा।

शास्त्रीय आलोचना—शास्त्रीय आलोचना सैद्धान्तिक आलोचना का व्यावहारिक स्वरूप है। जब आलोचक किसी कृति का अध्ययन करके उसका परीक्षण शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर करता है, तब उसे शास्त्रीय आलोचना कहते हैं। इस आलोचना में आलोचक नियमों की कसौटी पर किसी कृति को कस

कर उसके सम्बन्ध में अपना निर्णय भी देता है। इसी कारण इसको निर्णयात्मक आलोचना भी कहते हैं। इस प्रकार का आलोचक 'निरंकुशः कवयः' की कहावत को स्वीकार नहीं करता। निर्णयात्मक आलोचना से साहित्य के विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। कवि या साहित्यकार किसी बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। लक्षण ग्रन्थों की रचना तो लक्ष्य ग्रन्थों के बाद होती है। अतः कलाकार नवीन कृतियों का सृजन करता है और आलोचक उनको देखकर नवीन लक्षण या नियम बना सकते हैं। कलाकार को उसकी अपेक्षा नहीं। 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' इसी प्रकार की आलोचना है।

व्याख्यात्मक आलोचना—यह आलोचना का आधुनिक स्वरूप है। इसमें आलोचक तटस्थ भाव से कलाकार के दृष्टिकोण की व्याख्या करता है। वह नियम तथा सिद्धान्तों की ओर ध्यान न देकर कवि के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और उसकी भावनाओं को हृदयङ्गम करके उसके आदर्श, दृष्टिकोण एवं प्रवृत्तियों को समझाता है। सभी कवि या साहित्यकार एक ही श्रेणी तथा प्रकृति के व्यक्ति नहीं होते। सभी की प्रतिभा का विकास विभिन्न प्रतिवेशों एवं विभिन्न संस्कारों के मध्य होता है। अतएव सभी की कृतियों का मूल्याङ्कन एक ही नियम और सिद्धान्त के आधार पर करना सर्वथा अनुपयुक्त है। कलाकार अपनी कृति के सृजन में पूर्ण स्वतन्त्र होता है। अतः उसकी भावना का दर्शन उसी के नेत्रों से करना अधिक समीचीन है। इसके लिये आलोचक को उसकी प्रतिभा में सम्पूर्ण रूप से लीन होना अपेक्षित है तथा उसकी प्रवृत्ति का ग्रहणशीला होना वांछनीय है। आलोचक की ग्रहणशीला प्रवृत्ति की विनाशिका कुछ शक्तियाँ हैं, जिनका वर्णन आई० ए० रिचर्डस ने किया है। वे शक्तियाँ हैं—(१) असङ्गत स्मृतियाँ, (२) सम्बद्ध प्रतिक्रियायें, (३) अति भावुकता, (४) निरोध (कुछ विशिष्ट विषयों अथवा भावों के प्रति अनासक्ति), (५) सैद्धान्तिक आसक्ति, (६) रचना-कौशल सम्बन्धी पूर्व कल्पनायें, (७) साधारण आलोचनात्मक पूर्ण धारणायें। अतएव व्याख्यात्मक आलोचनाकार को इन शक्तियों या बाधाओं से मुक्त होकर अपने व्यक्तित्व को साहित्यकार के व्यक्तित्व में विलीन कर तटस्थ भाव से उसकी भावनाओं का उद्घाटन करना चाहिये। हिन्दी में आचार्य शुक्ल की तुलसी, सूर तथा जायसी की आलोचनायें इसी कोटि की हैं।

ऐतिहासिक आलोचना—ऐतिहासिक आलोचना वास्तव में व्याख्यात्मक अलोचना की ही एक पद्धति विशेष है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक साहित्कार के पूर्ववर्ती एवं समसामयिक इतिहास का आश्रय ग्रहण करता है। वह तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों और साहित्यिक विचारधारा का विश्लेषण करता हुआ यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है कि अमुक साहित्यकार का साहित्य उसके युग का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि और युग एक दूसरे पर प्रतिविम्बित होते हैं। जिस युग में तुलसी का अवतरण हुआ, उस युग में बिहारी उत्पन्न नहीं हो सकते थे और कबीर ने जिस युग में जैसी रचना की, उस युग में भूषण की सी रचना नहीं हो सकती थी। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस पद्धति को अपनाया है।

ऐतिहासिक आलोचना को पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जबकि साहित्यकार के जीवन का भी परिचय प्राप्त कर लिया जाय। क्योंकि जाति, परिस्थिति तथा युग तीनों शक्तियाँ किसी कृति में साहित्यकार के व्यक्तित्व द्वारा पुँजीभूत होती हैं। व्यक्तित्व का विकास जीवन द्वारा होता है। अतः साहित्यकार के जीवन का ज्ञान अपेक्षित है! कुछ लोग इस प्रकार की आलोचना पद्धति को जीवन चरितात्मक आलोचना कहते हैं। इस प्रकार की आलोचना पद्धति ऐसे साहित्यकारों के सम्बन्ध में विफल होती है जो अपने को अपनी कृतियों में व्यक्त नहीं करते तथा ऐसे मृत लेखकों के सम्बन्ध में तो यह पद्धति असम्भव हो है, जिनके विषय में उनकी कृतियों के अतिरिक्त हमारे पास किसी प्रकार की कोई सूचना नहीं है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना—मनोवैज्ञानिक आलोचना भी व्याख्यात्मक आलोचना की ही एक पद्धति है। इसमें कलाकार के मानस का अध्ययन करते हुए उसकी कृति के मूल भावों और प्रेरणाओं का विश्लेषण किया जाता है। यह आलोचना पद्धति कलाकार की कृति का स्रोत उसके मन में खोजती है। कोई भी कृति कलाकार के वैयक्तिक स्वभाव, तथा उसकी आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रिया जीवन मनः स्थिति का परिणाम होती है। अतः उसकी कृति का समीक्षण इसी दृष्टिकोण से करना इस आलोचना पद्धति के अन्तर्गत आता है। फ्राइड, युंग तथा एडलर इत्यादि मनोविश्लेषण शास्त्रियों के विचारों से आज का साहित्य अत्यन्त प्रभावित है। अतः इस प्रकार की आलोचना का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। डा० नगेन्द्र की छायावाद की आलोचना इसी कोटि में आती है।

तुलनात्मक आलोचना—यह भी व्याख्यात्मक आलोचना का ही एक प्रकार है। इस प्रकार की आलोचना में एक ही समय के दो या अधिक साहित्यकारों के साहित्य, एक ही विषय की विभिन्न युगों की कृतियों, एक ही विषय या भाव पर लिखित विभिन्न भाषाओं की कृतियों का तुलनात्मक विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार की आलोचना में समता एवं विषमता दोनों ही का दिग्दर्शन कराना अपेक्षित होता है। जब आलोचक तटस्थ भाव से समान कृतियों के समान एवं असमान भावों की व्याख्या करता है, तो तुलनात्मक आलोचना अत्यन्त उपयोगी होती है, विशेषकर विभिन्न भाषाओं के साहित्य का आनन्द ग्रहण करने के लिए। किन्तु जब आलोचक किसी एक को उत्तम और दूसरे को उसकी अपेक्षा हीन बताता है, तो विवाद की सृष्टि हो जाती है, जो साहित्य के लिए वांछित नहीं है। हिन्दी में बिहारी और देव को लेकर इसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होगया था। ऐसी दशा में आलोचक पक्षपाती हो जाता है और आलोचना विशुद्ध नहीं रह जाती। डा० जगदीश गुप्त की गुजराती और हिन्दी कृष्णकाव्य का अध्ययन इसी कोटि की आलोचनात्मक कृति है।

इन प्रमुख आलोचनाओं के अतिरिक्त कुछ आलोचनाएँ इस प्रकार की भी हैं जो 'साहित्य जीवन की व्याख्या है' को आधार बनाकर चलती हैं। साहित्यकार भी एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से ही कुछ लेकर समाज को अपने साहित्य के रूप में कुछ देता है। उसकी देन समाज के लिए कहाँ तक उपयोगी है? इस दृष्टिकोण से साहित्य की जो आलोचना की जाती है, उसे मूल्य सम्बन्धी आलोचना कहते हैं। हिन्दी में आचार्य शुक्ल इसी कोटि के आलोचक थे। उनकी आलोचना में लोक-संग्रह की भावना प्रमुख रही है। इसी कारण उन्होंने सूर की अपेक्षा तुलसी को अधिक महत्त्व दिया है। पश्चिम में आई० ए० रिचर्ड्स इसी कोटि के आलोचक थे। किन्तु उन्होंने आन्तरिक वृत्तियों के सामञ्जस्य पर अधिक बल दिया है, जब कि शुक्लजी आन्तरिक वृत्तियों के साथ-साथ समाज के वाह्य सामञ्जस्य को भी आवश्यक समझते हैं।

मार्क्स ने आर्थिक मूल्यों को महत्ता दी है। उनकी दृष्टि में जो साहित्य आर्थिक मूल्यों को सुलभ बनाने में सहायक होता है, वही उत्तम है। इस दृष्टिकोण से जब साहित्यकार का परीक्षण किया जाता है तो उसे मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना कहते हैं। यह आलोचना जहाँ साहित्य को जीवन से सम्बद्ध करती है, वहाँ वर्ग सङ्घर्ष को भी प्रोत्साहन देती है। हिन्दी में डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान और प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचनाएँ इसी कोटि में आती हैं।

भारतीय आलोचना पद्धति भी साहित्य को जीवन के लिए ही माननीय है किन्तु उसका आदर्श भौतिक के साथ आध्यात्मिक मूल्यों का सामञ्जस्य है। मम्मट के द्वारा निर्दिष्ट काव्य के प्रयोजनों से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है।

साहित्य की इन आलोचनाओं में व्याख्यात्मक आलोचना का ही आजकल अधिक प्रचार है क्योंकि वही साहित्यकार को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करती है।

—बलवंत राजपूत कालेज, आगरा।

छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

डा० विनयमोहन शर्मा

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी साहित्य में नूतन चेतना का उदय हुआ। इसलिए नहीं कि उस पर युद्ध का सीधा प्रभाव पड़ा। पर पराधीन देश उससे अछूता बचा रहा, यह कहना भी गलत है। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय धन-जन की आहुति चढ़ाई गई (हमारे देश के चोटी के नेताओं ने भी उस समय युद्ध सहायता प्रदान की) और जब मित्र राष्ट्र जीते तो भारतीयों को उसकी सेवा के उपलक्ष्य में दमनकारी कानूनों के शिकञ्जों में जकड़कर रौंदा गया, पीसा गया। इसकी प्रतिक्रिया समस्त देश में हुई। गांधी जी के नेतृत्व में देश स्वाधीनता के लिए छटपटाने लगा, वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मार्ग से विद्रोह के पथ पर चलने लगा। देश की बाह्य क्रान्ति साहित्य में प्रतिबिम्बित हुई।[1] इस समय हिन्दी कविता के दो रूप दिखलाई दिये। एक तो वह जिसमें देश की स्वाधीन भावना मुक्त कण्ठ से मुखरित हो रही थी। कवि अपने चारों ओर की उत्पीड़नमयी घटनाओं और जनता के रोष को अभिधा में व्यक्त कर रहे थे। ऐसे कवि राष्ट्रीय कवि कहलाए। दूसरा वह जिसमें धर्म, समाज, साहित्य की रूढ़ियों से विमुख हो कवि अपनी सत्ता को स्वच्छन्द रीति से प्रतिष्ठित करने का आग्रह कर रहे थे। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि देश के बाह्य राजनीतिक विद्रोह में भाग लेने में अक्षम मन ने साहित्य के निरापद क्षेत्र में अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया। यही स्वच्छन्दतावाद आगे चलकर छायावाद-रहस्यवाद से अभिहित किया जाने लगा। ऐसे कवि छायावादी कहलाए, पर 'छायावाद' में स्वच्छन्दतावाद का जो रूप दिखलाई दिया वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् के कवि हार्डी योट्स या डी ला मेरे आदि का स्वच्छन्दतावाद नहीं है। उसमें तो रोमेंटिक युग के वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, कॉलरिज आदि की आत्मा झाँक रही है, सीधे या बङ्गला के माध्यम से।

जिस प्रकार अंगरेजी के स्वच्छन्दतावाद के कवियों ने कविता की पुरातन मान्यताओं का तिरस्कार कर उसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार छायावादी कवियों ने कविता को देखने की नई दृष्टि दी, जिससे पूर्ववर्ती शास्त्रीय समीक्षा धीरे-धीरे दूर होकर कालेजीय विवेचना टीकाओं में सिमट कर रह गई। प्रसाद कहते हैं, 'इस युग की ज्ञान सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचना शैली का व्यापक प्रयत्न क्रियात्मक रूप से दिखलाई देने लगा। किन्तु साथ ही साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप भारतीयता की भी दुहाई सुनी जा रही है प्रसाद ने साहित्य-कला की विवेचना करते समय भारतीय पारिभाषिक शब्दों का विस्मरण नहीं किया पर उनकी व्याख्या में आधुनिकता भरने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। वे कहते हैं, 'यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे—तो प्रमाद कर बैठने की आशङ्का है।' इस तरह छायावादी कवि पाश्चात्य और भारतीय दोनों मान्यताओं को लेकर चले हैं। साहित्य क्या है? कविता क्या है? उसके प्रेरक स्रोत क्या हैं? उसका भाव और बाह्य रूप-विधान से क्या सम्बन्ध है? वह युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष? आदि प्रश्नों पर उन्होंने विचार-चिन्तन

[1] आकाश में आच्छन्न होने वाले बादल जिस क्रान्ति से उमड़े थे, छायावाद भी ठीक उसी क्रान्ति का पुतला था। जिस क्रान्तिकारी भावना के कारण बाह्य जीवन में राजनीतिक दुरवस्थाओं की अनुभूतियां तीव्र होती जा रहीं थीं, वही भावना साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर खड़ी हुई थी और मनुष्य की मनोदशा-विचार एवं सोचने की प्रणाली में विप्लव की सृष्टि कर रही थी। (मिट्टी की ओर : दिनकर)

किया है। प्रसाद ने काव्य को आत्मा की सङ्कल्पात्मक अनुभूति कहा है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वे काव्य और कला में लिखते हैं, "वह (काव्य) एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" 'सङ्कल्पात्मक मूल अनुभूति' ने प्रसाद का तात्पर्य है आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है। प्रसाद का श्रेय सत्य ज्ञान ही है जिसकी व्यक्तिगत सत्ता नहीं है उसे वे एक शाश्वत चेतना या चिन्मयी ज्ञान धारा कहते हैं जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है।

'प्रसाद' की काव्य की यह रहस्यमयी व्याख्या आंग्लरोमैंटिक-युग के कवियों की अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान के समान जान पड़ती है।

ब्लेक का कथन है—'Vision or Imagination is representation of what externally exists Really and unchangeably"

(भीतरी झलक या कल्पना बाह्यावस्थित शाश्वत सत्य का प्रतिनिधीकरण है) काव्य-प्रतिभा परम सत्य (truth and reality) को अनुभव करने का शक्ति का नाम है। प्रसाद का 'सत्य' 'शाश्वत चेतन' या 'चिन्मयी ज्ञानधारा' ब्लेक के truth and reality से दूर नहीं है। वह भी इन्हें अपरिवर्तनशील कहता है। कॉलरिज भी कविता को विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति मानता है और उसमें 'भीतरी सत्य' का आभास पाता है।

अंग्रेजी रोमैंटिक कवि काव्य को प्रसाद के शब्दों में प्रायः 'आत्मा की अनुभूति' मानते हैं। क्योंकि वे उसमें आध्यात्मिकता का किसी न किसी रूप में समावेश करते हैं। प्रसाद की तरह डा० रामकुमार वर्मा का मत है "आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।"

छायावादी कवि आंग्ल समीक्षकों के समान कविता के आत्मपरक और परात्मक भेद को नहीं मानते। डा० रामकुमार कहते हैं, जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय हो जाता है। 'मैं' चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण कर लेता है। पं० माखनलाल का वक्तव्य है—साँस और सूफ जिस तरह एक दूसरे के विद्रोही नहीं, उसी तरह विश्व के प्रलयङ्कर और कोमल परिवर्तन तथा युग का निर्माण तथा दूसरी तरफ हृदयोन्मेष तथा विश्व के विकास के वैभवशील कौशल दोनों में कहीं विद्रोह नहीं दीख पड़ता। क्योंकि एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान माँगती है और दूसरी ओर, वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों के उच्चतर समर्पण का प्रमाण चाहती है। एक कवि का निश्चय और दूसरी कवि की अनुभूति बनकर रहना चाहती है। 'निराला' की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

"मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में
झर उमड़ वेदना आई।"

महादेवी कहती हैं—"जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है, अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि वाह्य जगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है, वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं। उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं कि जीवन के जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया

इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में एक देशीय होकर भी अनेक देशीय और युग विशेष से सम्बन्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।"

कॉलरिज श्रेष्ठ कविता उसी को मानता है जिसमें कवि अपने सुख दुख से ऊपर उठकर सृष्टि के सुख-दुख में अपने को मिला देता है।[1] (स्वार्थ सीमित भावनाओं) में प्रेषणीयता नहीं होती। पन्त 'आधुनिक कवि' में स्वीकार करते हैं—"यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुख के सत्य को अथवा अपने मानसिक सङ्घर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है।" बौद्धिकता और भावप्रवणता को पन्त एक मानते हैं।[2] प्रसाद ने भी बुद्धि और भाव को मन के ही दो रूप प्रतिपादित किये हैं।[3] अतः जो बाह्यात्मक रचनाओं को बौद्धिक कहकर उनका इसलिए उपहास करते हैं कि उसमें कवि का 'मन' नहीं रमा रहता, यह भ्रान्ति है। कवि को द्रवित होने के लिए उसी पर सीधी चोट पड़ना आवश्यक नहीं है। वह वाह्य वस्तु के माध्यम से भी पीड़ित हो सकता है। विधवा की करुण मानसिक स्थिति के अङ्कन के लिए कवि को स्वयं विधवा बनने की आवश्यकता नहीं। उसके हृदय की संवेदनशीलता विधवा के दुःख को कल्पना के माध्यम द्वारा ग्रहण कर लेती है। इसी से कल्पना को केवल 'बुद्धि-व्यापार' नहीं कहा जा सकता। वह कवि की संवेदनशीलता से जाग्रत होती है और उसमें स्वयं संवेदना भी भरती है। (गीति काव्य में कवि के 'स्व' को देखना और अन्य रचनाओं में उसको तटस्थ कहना पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र का गड़बड़झाला है।) पन्त ने सजग हो 'स्व' और 'पर' में विभेदक पर्दा नहीं रहने दिया। इससे हिन्दी-समीक्षा को एक नई दृष्टि मिली है।

काव्य की अभिव्यञ्जना के सम्बन्ध में छायावादियों में मतभेद है। अभिव्यञ्जना में भाषा, छन्द, अलङ्कार आदि का समावेश है। वह काव्य की बाह्य आकृति है। कलाकार के मन में कलाकृति का चित्र पूर्ण रूप से उतर आता है। तभी अभिव्यक्ति में पूर्णता आती है। 'प्रसाद' कहते हैं 'जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने में पूर्ण हो सकी है। वहीं कौशल या विशिष्ट पद-रचना युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।' (काव्य और कला प्रसाद)

भावाभिव्यञ्जना भाषा और प्रायः छन्द का रूप धारण करती है। भाषा को भावानुगामिनी होना चाहिए। इस सम्बन्ध में 'पन्त' का आग्रह है। 'कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए। जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झङ्कार में चित्र, चित्र में झङ्कार हो।' (पल्लव) छायावादी कवियों ने भाषा को माधुर्य प्रदान करने में कम योगदान नहीं दिया। कहीं-कहीं तो इसी से कवि की अनुभूति उसी के आवरण में ओझल होगई। तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जोर से कहना पड़ा कि छायावादी अभिव्यञ्जना पर ठहर गये हैं। उनकी भावना का स्रोत सूख गया है। 'प्रसाद' ने छायावादी रचना को 'अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर कर दिया। उन्होंने कहा 'ध्वन्यात्मक, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।[1]

भाषा में 'प्रतीक' शब्दों के प्रयोग की ओर छायावादी कवि का विशेष आग्रह है। उसने 'कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्दों को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँट कर तथा कुछ नये

[1] So long as the poet gives utterances merely to the subjective feelings he has no right to the title.

[2] "बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है।" (आधुनिक कवि-८)

[3] 'मनु'—अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग सकता है। कामायनी (आमुख में)

[1] वही, पृष्ठ १४९

गढ़ कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमल कलेवर दिया।' निराला भी भाषा को 'भावों की अनुगामिनी मानते हैं और यह भी कि 'बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जड़ता की भाषा नहीं रही।' छायावादियों ने भाषा को सँवारने और भावों में तीव्रता भरने के लिए अलङ्कारों का उपयोग किया है। 'पन्त' उन्हें राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान मानते हैं। जीवन में एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम लाने के लिए 'पन्त', काव्य छन्द की आवश्यकता अनुभव करते हैं। 'हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। संस्कृत के 'वर्णवृत्त' हिन्दी की प्रवृत्ति के प्रतिकूल हैं क्योंकि उनकी नहरों में उसकी धारा अथवा चञ्चल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता कलकल, छलछल तथा अपने क्रीड़ा-कौतुक, कटाक्ष एक साथ खो बैठती है, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख मुद्रा गम्भीर, मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती है, उसका चञ्चल भृकुटि-भङ्ग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। 'भगवतीचरण वर्मा' मुक्त छन्द की कविता को अधिक से अधिक गद्य-काव्य मानते हैं। कविता नहीं। दिनकर कविता में छन्द को स्वाभाविक मानते हैं। क्योंकि 'छन्द : स्पंदन समग्र सृष्टि में व्याप्त है। कला ही नहीं, जीवन की प्रत्येक शिरा में यह स्पन्दन एक नियम से चल रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह मण्डल और विश्व की प्रगतिमात्र में एक लय है जो समय के ताल पर यति लेते हुए अपना काम कर रही है। 'लय' और ताल पर महत्त्व देने के कारण ही कई छायावादियों ने भाषा के व्याकरण की अधिक चर्चा नहीं की। द्विवेदीयुग में जहाँ कविता परम्परागत अलङ्कार छन्दों में वस्तु-वर्णन का शास्त्र बन गई थी, वहाँ छायावाद-युग में कवियों ने उसे परखने का एक नया दृष्टिकोण प्रचलित किया। वस्तु के साथ भाव का मेल किया और उसे कला के साथ समन्वित करने का प्रयास किया।

महादेवी ने 'आदर्श' और 'यथार्थ' दोनों पर विचार किया है। "आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन सङ्कीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामञ्जस्य को देखने की शक्ति देता है। हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना का, मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डित भावना को अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है।" "यथार्थ स्थूल बन्धनों के भीतर निश्चित स्थित रखता है।" "आदर्श का सत्य निरपेक्ष है परन्तु यथार्थ की सीमा के लिये सापेक्षता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य रहेगी।" "आदर्शवादी कलाकार अपनी सृष्टि को अन्तर्जगत में घेर लेता है और यथार्थवादी अपने निर्माण को केवल बाह्य जगत में बिखरा देता है।" पर यथार्थवादी कवि का 'कर्म' सहज नहीं है। महादेवी उसमें अशिवत्व-तत्व नहीं देखना चाहतीं। महादेवी जीवन में ऐसे आदर्श को अपनाना चाहती हैं जिसे प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है। ऐसा आदर्श जो यथार्थ के संकेत छोड़ जाता है। 'बच्चन' आदर्श और यथार्थ दोनों से स्फूर्ति पाते हैं। उनका इङ्गित है "देखते नहीं कि उसका (कवि का) एक हाथ उपवन में खिली चमेली का हिमकण हार उतार रहा है और दूसरा हाथ भविष्य के तमोमय साम्राज्य में निर्भीकता के साथ प्रविष्ट होकर उषा की साड़ी खींच रहा है। देखते नहीं, उसका एक कान निर्झरिणी की रागिनी श्रवण कर रहा है और दूसरा कान इन्दु के अखाड़ों में खड़े हुए सङ्घर्ष, किन्नर और अप्सराओं के आलाप का आनन्द ले रहा है।" आज हिन्दी में जिस यथार्थवादी साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है, उस सम्बन्ध में छायावादियों का दृष्टिकोण यह है कि वे इन यथार्थवादी रचनाओं में कवि का 'यथार्थ' पाते ही नहीं। 'प्रसाद' का मत है, "यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है—समाज कैसा है या था।" प्रसाद आदर्शवाद के भी भक्त नहीं हैं क्योंकि 'आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वे साहित्य की इन दोनों 'वादों' से ऊपर उठा ले जाते हैं।

वे आदर्श और यथार्थ का मेल कराते हैं। कहते हैं—"दुख दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"

महादेवी भी यथार्थवाद को 'जीवन का इतिवृत्त' (इतिहास) कहती हैं। इसीलिये वे 'प्रकृति और विकृति' दोनों चित्र देने के लिए स्वतन्त्र हैं। पर जीवन में विकृति अधिक प्रसारगामिनी है। परिणामत: यथार्थ की रेखाओं में वही बार-बार व्यक्त होती रहती है।" अत: महादेवी जीवन को स्वस्थ विकास देने वाली शक्तियों को प्रगति देने वाले प्रकृति-चित्रकार को सच्चा यथार्थवादी मानती हैं। पर आज की 'यथार्थवादिनी' कविता ऐसे 'कण्ठ' से उत्पन्न हो रही है जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित हैं। 'महादेवी' और 'प्रसाद' चूँकि यथार्थ जगत् के भौतिक जीवन से अधिक परिचित नहीं हो पाये इसलिये उनमें उसके प्रति तीव्र संवेदना नहीं जाग सकी। पन्त की भी यही स्थिति है—उनकी भी यथार्थ मानव जीवन के प्रति 'बौद्धिक सहानुभूति रही है। प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्शों की उपयोगिता को नष्ट होते देखकर भी 'पन्त' ने आदर्श से विद्रोह नहीं किया पर यथार्थ की उपेक्षा भी नहीं की। दोनों का समन्वय करके कविता को एक नया 'तन्त्र' उन्होंने देना चाहा—"मेरा विश्वास है लोकसङ्गठन तथा मन:सङ्गठन एक दूसरे के पूरक हैं। क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।" (उत्तरा) "आज साहित्यकार कभी व्यष्टि से असन्तुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है। कभी समाज से असन्तुष्ट होकर व्यक्ति की ओर।" पन्त की धारणा है, "इन दोनों किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा।" इसीलिए वे 'वहिरन्तर' जीवन के समन्वय को ही प्रधानता देते हैं। इस तरह 'पन्त' साहित्य में समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह दृष्टिकोण 'प्रसाद' के 'समरसता' का पर्याय कहा जा सकता है।

छायावादी कवि राजनीति के दायरे में अपने को नहीं बाँधना चाहते। 'निराला' के शब्दों में "एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एक देशीय भावना के कारण घटा देता है। साहित्यिक मनुष्य की प्रवृत्तियों को ही श्रेय देता है। जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सम्बन्ध है।" दिनकर भी साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानते। "कला क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सच्चे अनिषेध का होना चाहिए। कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है, वह केवल इतना ही है कि कवि अपने आपके प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार रहे।"

संक्षेप में, छायावादी कवियों में प्रायः अँगरेजी रोमांटिक कवियों की प्रवृत्ति पायी जाती है। उनमें साहित्य की रूढ़ मान्यताओं के प्रति अनास्था की तीव्रता न होते हुए भी उनसे आग्रहपूर्वक लगाव भी नहीं है। वे कविता को अन्तर्बाह्य अनुभूति का परिणाम मानते हैं। इसलिए उसके आत्मपरक और परात्मक भेद को बहुधा नहीं मानते। अन्तर में "मधुर-मधुर मेरे दीपक जल" की मनुहार वाली महादेवी और 'मेरे नगपति मेरे विशाल' पर दृष्टि जमाने वाले दिनकर एक पंक्ति में बैठते हैं। इसी प्रकार छन्दों की रूढ़ता से विरक्ति दिखाने पर भी उन्हें त्यागने के स्थान पर नूतन छन्दों की खोज में वे व्यस्त दीखते हैं। भाषा में बाह्य शृङ्गार से उन्हें प्रेम है। प्रकृति के प्रति तादात्म्य प्रदर्शित कर वे उससे स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी अभिन्नता-स्थापित करना उनका ध्येय है। साहित्य को युगापेक्षी बनाना उनका लक्ष्य नहीं है। पर युग-चेतना से वे अनुप्राणित भी होना चाहते हैं।

वे भावपक्ष पर आग्रह प्रदर्शित करते हैं। इसलिए भारतीय रसवादी हैं। वे कला पक्ष के प्रति सहज ममता रखते हैं। इसलिए पाश्चात्य अभिव्यञ्जनावादी हैं। उनमें भाव और कला दोनों को समान अनुभव करने की प्रवृत्ति है। इसलिए उनका दृष्टिकोण 'समरसता' अथवा 'समन्वय' का है।

—केन्द्रीय हिन्दी शिक्षक महा विद्यालय, आगरा।

१९६२ की अभिनव और महत्वपूर्ण रचना

साकेत-सुधा

लेखक—श्री रामस्वरूप दुबे एम० ए०

इसमें राम-कथा की परम्परा में वाल्मीकीय रामायण से लेकर पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत 'ऊर्म्मिला' को दृष्टि में रखकर आधुनिक महाकाव्य 'साकेत' की तुलनात्मक समीक्षा की गई है। हिन्दी के शीर्षस्थ विद्वानों द्वारा प्रशंसित यह ग्रन्थ शोधकर्त्ताओं, एम० ए०, साहित्य-रत्न, साहित्यालङ्कार, प्रभाकर आदि के विद्यार्थियों तथा कविता-प्रेमियों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं संग्रहणीय है।

क्रम—परिचय

१—आधुनिक काव्य-धारा और गुप्तजी, २—साकेत की कथावस्तु की योजना, ३—साकेत का वर्तमान रूप, ४—साकेत की सर्गानुसार कथा, ५—'साकेत' शीर्षक की सार्थकता, ६—गार्हस्थ्य जीवन का आदर्श और साकेत, ७—भारतीय संस्कृति और साकेत, ८—गुप्तजी की वैष्णव भावना और साकेत, ९—साकेत में गुप्तजी की नारी भावना १०—साकेत में प्रकृति-वर्णन, ११—उर्मिला का विरह, १२—साकेत का महाकाव्यत्व, १३—साकेत में आधुनिकता, १४—साकेत के उपकरण, १५—साकेत-सुधा, १६—परिशिष्ट।

'साकेत-सुधा' विद्वानों की दृष्टि में—

* यह कहते हुए मुझे प्रसन्नता होती है कि साकेत सम्बन्धी समीक्षा ग्रन्थों में साकेत-सुधा का आलोचनात्मक स्तर यथेष्ट रूप से असाधारण है।

—डा० रामकुमार वर्मा

* यह कहना सर्वथा उचित होगा कि साहित्य के विद्यार्थियों की जिज्ञासा-तृप्ति के लिए पुस्तक में यथेष्ट सामग्री है।

—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

* यह विश्वास सहज ही हो जाता है कि इसके द्वारा साकेत की अध्ययन परम्परा का विकास अवश्य होगा।

—डा० नगेन्द्र

* आधुनिक राम-काव्य की परम्परा के तुलनात्मक अध्ययन की अच्छी पुस्तक है। और यह राम-काव्य के सम्बन्ध में लिखी हुई पुस्तकों में अच्छा स्थान पायेगी।

—डा० गुलाबराय

* दुबेजी की यह रचना छात्रों के लिए विशेष उपयोगी, गुप्तजी की शोधकों के लिए मार्गदर्शक और विद्वानों के लिए नवीन प्रभाव उत्पन्न करने वाली है।

—डा० वासुदेवनन्दनप्रसाद

※ आकर्षक तिरङ्गा आवरण ※ एन्टिक कागज ※ डिमाई आकार ※

मूल्य—सात रुपये पचास न० पै०

कुछ अन्य प्रकाशन

१—**हिन्दी निबन्ध**—लेखक डॉ० शिवकुमार मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०—साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामयिक निबन्धों का उत्कृष्ट संग्रह—मूल्य-पांच रुपये।

२—**साहित्यिक निबन्ध**—ले० डॉ० शिवकुमार मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०—उच्चकोटि के साहित्यिक निबन्धों का अनुपम संग्रह—मू० पाँच रुपये।

३—**अजातशत्रु और प्रसाद की नाट्यकला**—ले० डॉ० शिवकुमार मिश्र एम० ए०, पी-एच० डी०—नाटक के तत्वों के आधार पर अजातशत्रु की विस्तृत समीक्षा—मू० दो रुपये पचास नये पैसे।

४—**भारतेन्दुकृत भारत दुर्दशा**—सम्पादक श्री राजकिशोर सिंह एम० ए०—मूल नाटक, समीक्षा एवं टीका—मू० एक रुपया पच्चीस नये पैसे।

नारायण बुक डिपो, परेड, कानपुर

आपकी नवीन पाण्डुलिपियाँ प्रकाशनार्थ आमंत्रित हैं।

हमारे प्रकाशन

जीवनोपयोगी

पुस्तक	लेखक	मूल्य
सफलता की कुञ्जी	स्वामी रामतीर्थ	१.००
आगे बढ़ो	स्वेट मार्डेन	१.५०
नैतिक जीवन	रघुनाथ प्रसाद पाठक	२.५०
देश भक्त बच्चे	,,	१.५०
हम क्या चाहते हैं	स्वामी विवेकानन्द	१.५०
विश्वशान्ति का सन्देश	,,	२.५०
कर्म योग	,,	२.००
भक्ति योग	,,	२.००
भक्ति और वेदान्त	,,	२.००
विद्यार्थी जीवन	महात्मा नारायण स्वामी	१.५०
शिक्षा	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	२.००
उपनिषदों की कथाएँ	हिमांशु	१.२५
चरित्र निर्माण की कथाएँ	,,	१.२५
बच्चों की समस्याएँ	सुदेश बी० ए०	१.५०

कहानियाँ

पुस्तक	लेखक	मूल्य
उर्दू की हास्य रस कहानियाँ	जगन्नाथ शर्मा	३.५०
रूस की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ	बलभद्र ठाकुर	२.५०

उपन्यास

पुस्तक	लेखक	मूल्य
कल्पना	रामकृष्ण कौशल	२.५०
पथ के राही	,,	२.५०
स्वयं सिद्धा	मणिलाल वन्द्योपाध्याय	३.५०
सामाजिक कारा के बन्दी	हरदयालसिंह एम.ए.	४.००
संस्कारों के बन्धन	अभयकुमार यौधेय	५.५०
डूबते तारे (नाटक)	,,	१.७५
दूर के दीप	शुकदेवसिंह सौरभ	८.५०
वाह रे आंसू	,,	७.००
विवाह की मंजिलें	जीवन प्रकाश जोशी	५.५०
पथ की खोज में	महेन्द्र बी. ए., एल-एल-बी.	५.५०
सुलगती परछाइयाँ	रमेश भारती	४.५०
मौत और जिन्दगी	द्वारकाप्रसाद एम. ए.	३.५०
निराश प्रणयी	बलभद्र ठाकुर	२.००
तिनके और लहरें	हरदयालसिंह एम. ए.	५.००
शराबी का दिल	रमेश भारती	३.५०
प्रयास के सुमन	आदर्श मोहन सारङ्ग	६.००
चमकता संसार	केदारनाथ अवस्थी	२.५०
स्वयंसिद्धा	मणिलाल वन्द्योपाध्याय	३.५०
कुमुदिनी	रवीन्द्रनाथ टैगोर	४.००
त्याग का मूल्य	,,	४.००
नाव दुर्घटना	,,	४.००
घर और बाहर	,,	३.५०
आँख की किरकिरी	,,	५.००
गोरा	,,	६.००

बाल साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
देश देश की लोक कथाएँ	सन्तराम वत्स्य	०.७५
भारतीय शिष्टाचार	,,	०.७५
पूर्वजों की सीख	हिमांशु	०.७५
महानता की सच्ची कहानियाँ	,,	०.७५
बड़ों के व्यंग्य विनोद	,,	०.७५
बोलती लोक कथाएँ	,,	०.७५
जातक कथाएँ	जगन्नाथ प्रभाकर	०.७५
झलकियाँ	,,	०.७५
भोले शिकारी	,,	०.७५
जीवाणु बम	,,	१.००
बङ्गाल का प्रताप	,,	०.७५
अनोखा देश	,,	०.७५
कश्मीर की कहानी	,,	०.४०
बचों की फुलवाड़ी	,,	०.४०

आलोचना

पुस्तक	लेखक	मूल्य
हिन्दी गद्य के सोपान	जीवन प्रकाश जोशी	७.००

नाटक

पुस्तक	लेखक	मूल्य
इक्कीसवीं सदी / २२ वीं सदी	भगवानदास सफड़िया	४.००

हर प्रकार की पुस्तकों के लिए हमें लिखें।

सन्मार्ग प्रकाशन

१६ यू० बी० बंगलो रोड, दिल्ली-६

तार

साफ़ साफ़

लिखिये

तार का संदेश बिल्कुल स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए ताकि किसी तरह की गड़बड़ी या गलतफहमी न हो। तार अस्पष्ट लिखने से उस के पहुंचने में देर लगने की संभावना है।

हमें उत्तम सेवा का अवसर दीजिये

डाक-तार विभाग

DA 60/551

REGD. No. A 263. July-August 1962 License N
Sahitya-Sandesh, Agra. Licensed to post without prepay

रामचरनलाल द्वारा साहित्य प्रेस में मुद्रित तथा साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से प्रकाशित ।

इसी अंक का क्रोड़ पत्र—

श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र पद्मपुरा

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

(दि० ४ फरवरी ६९ से ८ फरवरी ६९ मिती फाल्गुण कृष्णा २ मंगलवार से ६ शनिवार तक)

❀ कार्य-क्रम ❀

झंडारोहण—	...	१९-१-६९	गर्भकल्याणक—	...	४-२-६९
मृत्तिकानयन आदि—	...	३१-१-६९	जन्म कल्याणक—	...	५-२-६९
रथयात्रा एवं श्रीजी मंडप में विराजमान—	...	२-२-६९	तप कल्याणक—	...	६-२-६९
गर्भ कल्याणक की पूर्व क्रिया—	...	३-२-६९	ज्ञान कल्याणक—	...	७-२-६९
			मोक्ष कल्याणक—	...	८-२-६९

सम्मिलित होकर धर्मलाभ करते हुए क्षेत्र के विकास में सहयोग प्रदान करें।

क्षेत्र कार्यालय :
मु० पो० बाड़ा-पद्मपुरा
रेल्वे स्टेशन-शिवदासपुरा
जिला-जयपुर (राज०)
फोन : P.C.O.

मंत्री :
प्रबन्ध-समिति
श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र पद्मपुरा
मनिहारों का रास्ता, जयपुर-३ (राज०)
[फोन : ७३५२५]

इसे पढ़कर कृपया समस्त बन्धुओं की सूचनार्थ मंदिरजी में चिपका दें।

श्री वीर प्रेस, जयपुर-३